प्रकाशक
श्रीसाधुमार्गी-जैन
पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज
की सम्प्रदाय का हितेच्छु
श्रावक-मण्डल, रतलाम (मालवा)

किंचिद्-वक्तव्य

पाठकगण ! पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज के व्याख्यानों में वर्णित, हरिश्चन्द्र-तारा की जिस कथा को आप पुस्तकरूप में देखने के लिये बहुत दिनों से लालायित थे, वह कथा पुस्तक रूप में आपके कर कमलों में मौजूद है। इस कथा को, पुस्तक रूप में प्रकाशित करने में, मण्डल को कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो आप ही पर निर्भर है।

पूज्यश्री, अपने व्याख्यानों में साधु-भाषा का ही प्रयोग करते हैं, और वह भी शास्त्र सम्मत। लेकिन सम्भव है, कि संग्रहक सम्पादक एवम् संशोधक महाशयों से कुछ उलट फेर होगया हो। इसलिये, भूल होने की जवाबदारी पूज्यश्री पर नहीं, किन्तु कार्यकर्ताओं पर है [illegible] के दृष्टिगोचर होने पर, कृपया [illegible] आशा है [illegible] इसके [illegible]

धाँठिया ने, अपनी स्वर्गीया मातेश्वरी की भक्ति से प्रेरित होकर, आधा खर्च अपने पास से प्रदान करके, इस पुस्तक को अर्द्धमूल्य में वितरण कराई है। कुँवर साहब तो, पूरा खर्च देकर इस पुस्तक को 'धर्मव्याख्या' की तरह बिना मूल्य वितरण कराना चाहते थे, परन्तु मुफ्त की पुस्तक का प्रायः दुरुपयोग होता है, इस विचार से-मण्डल ने कुँवर साहब की अर्द्ध-खर्च की सहायता ही स्वीकार की। ज्ञान-प्रचार के कार्य में सहायता देने के कारण, हम कुँवर साहब को धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं, कि कुँवर साहब, भविष्य में इसी प्रकार ज्ञान-प्रचार के कार्य में, हाथ बटाते रहेंगे। अन्य सज्जन भी, कुँवर साहब की तरह, ज्ञान-प्रचार के कार्य में सहायक बनकर, अपने द्रव्य का सदुपयोग करेंगे, ऐसी आशा है। इत्यलम्।

रतलाम
[illegible]

निवेदक—
शान्तचंद श्रीश्रीमाल [illegible] पारलिया
मन्त्री प्रेसीडेन्ट।

हीन विचारों को छोड़ सुविचारों को धारण कर लेता था—परन्तु आज की जनता उन व्याख्यानों को सुनने से और उन व्याख्यानों में वर्णित बातों को जानने से, वंचित है। यही बात, वर्त्तमान जैनाचार्य पूज्यश्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज के व्याख्यानों के लिए भी है। यानी आपके व्याख्यान भी बहुत ऊँचे भावों से भरे हुए तथा मनोहर होते हैं; परन्तु उनसे वे ही लोग लाभ उठा सकते हैं, जो इस समय मौजूद हैं और जिन्हें पूज्यश्री की सेवा का सुयोग प्राप्त है। जिन्हें पूज्यश्री की सेवा का सुयोग प्राप्त नहीं है, या जो लोग भविष्य में होंगे, उनका पूज्यश्री के व्याख्यानों द्वारा होनेवाले लाभ से वंचित रहना स्वाभाविक था, परन्तु मण्डल ने इसके लिये [illegible] वर्षों से यह उपाय किया है, कि पूज्यश्री के व्याख्यानों का संग्रह कराकर उनमें से प्रत्येक विषय को पृथक्-पृथक् [illegible] प्रकाशित की [illegible]

सेठ पूनमचन्दजी ताराचन्दजी साहब गेलड़ा मद्रास ने सम्वत् १९८६ में होनेवाले व्यय में ५००) रु० प्रदान किये । सम्वत १९८७ की बीकानेर की बैठक में भी ५००) रुपये श्रीमान् सेठ पूनमचन्दजी ताराचन्दजी साहब गेलड़ा मद्रास ने ही प्रदान किये और ४००) रुपये श्रीमान् सेठ अगरचन्दजी मानमलजी सा० ने प्रदान किये । इन महानुभावों की सहायता से, मण्डल का यह कार्य अबतक प्रचलित है । मण्डल इन सर्व सज्जनों का आभार मानता है और धन्यवाद देता है । साथ ही यह भी आशा रखता है कि अन्य ज्ञान-प्रचार के प्रेमी सज्जन इन महानुभावों का अनुकरण करके मंडल के इस कार्य में हाथ बटावेंगे । शास्त्रानुसार साधु महात्माओं के नाम गोत्र श्रवण स्मरण का भी महाफल है, तो उनके वचनामृत के प्रचार का फल कैसा उत्तम होगा, यह स्वयं जान सकते हैं । किमधिकम् ।

रतलाम
पोषी पूर्णिमा
सं० १९८७

भवदीय—
बालचन्द श्रीश्रीमाल, वरदभाण पीतलिया
मंत्री, प्रेसीडेंट ।

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज
की सम्प्रदाय का हितेच्छु
श्रावक मण्डल रतलाम मालवा

परिचय

पाठकों में से, सम्भवतः बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जिन्होंने 'श्री० पेमराजजी-हजारीमलजी' नाम की कलकत्ते की प्रसिद्ध फर्म के अध्यक्ष, भीनासर निवासी श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी साहब बाँठिया का नाम न सुना हो। आप, स्वर्गीय सेठ हजारीमलजी साहब बाँठिया के पौत्र हैं। वैसे तो भीनासर का बाँठिया परिवार सदा से प्रसिद्ध है, परन्तु स्वर्गीय सेठ हजारीमलजी साहब ने, अपनी उदारता और दानवीरता से उसे और भी प्रसिद्ध कर दिया है। सेठ हजारीमलजी साहब, जैनधर्म और जैन समाज के एक स्तम्भ थे। उन्होंने, जैन-शास्त्रोद्धार के कार्य में बहुत [illegible] हाथ बटाया था, और इसी प्रकार धर्म तथा समाज के हितार्थ [illegible] कामों में भी उन्होंने अपना बहुत द्रव्य [illegible] था [illegible] हजारीमलजी साहब, सच्चे धर्मोपासक और [illegible] महाराज के अनन्य-भक्त [illegible] संसार में नहीं हैं। यद्यपि [illegible] हजारीमलजी साहब

विषय			पृष्ठांक

से लोग घृणा करते हैं। उसके जीवित न रहने पर उन्हें कोई दुःख नहीं होता, वरन् प्रसन्नता होती है। उसके मरणोपरान्त, कोई उसका नाम भी नहीं लेता और यदि कोई लेता भी है, तो बहुत घृणा के साथ। ऐसे मनुष्यों में, केवल वे ही लोग प्रसन्न रहते हैं, जिनकी प्रकृति इनकी प्रकृति से मिलती-जुलती होती है। इसके विरुद्ध, जो मनुष्य दूसरों के दुःख से दुःखी होकर उनकी सहायता करनेवाला, समदृष्टि सदाचारी, धर्मभीरु और परोपकारी होता है, वह जीवितावस्था में तो सब को प्रसन्न रखता ही है, परन्तु मरने पर—उसकी मृत्यु को हजारों या लाखों वर्ष बीत जाने पर—भी लोग बड़े आदर से उसके नाम को स्मरण करते हैं। उसके चरित्र को पढ़ते-सुनते और उसे आदर्श-पुरुष मानते हैं। राम और रावण, दुर्योधन और युधिष्ठिर, कंस और कृष्ण इस संसार में अब नहीं हैं। लेकिन इनके नाम इसी प्रकार से लिये जाते हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है। स्वभाव के दोष के कारण कुछ लोग, दूसरी तरह के बताये हुए उत्तम-मनुष्यों को भी बुरा कहें [illegible] लेकिन इसमें न तो उन उत्तम मनुष्यों का दोष ही है और न उन [illegible] लोगों के कहने से [illegible] हो [illegible] सकते हैं [illegible]

[illegible] लेकिन [illegible]

दोष नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार यदि उल्टी-प्रकृति वालों को वे श्रेष्ठ-पुरुष सदोष दिखाई दें, तो इसमें उन उत्तम-पुरुषों को भी कोई दोषी नहीं कह सकता।

चरित्र-वर्णन, पठन या श्रवण, यद्यपि दोनों ही प्रकार के पुरुषों का किया जाता है, लेकिन एक को बुरा समझ कर और दूसरे को भला समझ कर। एक के चरित्र को आदर्श मानकर, तदनुसार आचरण करने के लिये और दूसरे के चरित्र को त्याज्य मानकर, वैसे आचरण से बचने के लिये। सदाचारी के चरित्र ग्राह्य माने जाते हैं और दुराचारी के त्याज्य।

हरिश्चन्द्र के चरित्र से, सत्य में अटल, दान में वीर, कष्ट में धीर और गम्भीर रहने आदि का आदर्श प्राप्त होता है और तारा के चरित्र से स्त्री-धर्म, पति-प्रेम, पति-सेवा, धर्म-रक्षा, तथा गृह-कार्य में दक्षता आदि बातों का। रोहित के चरित्र से भी बहुत कुछ शिक्षा मिलती है, जिनका वर्णन यथास्थान है।

संसार में जितने भी दानी हुए हैं, जितने भी सत्यवादी और सत्यपालक हुए हैं, हरिश्चन्द्र का उन सब में विशेष-स्थान माना जाता है। सब लोग कहते हैं कि धन्य है हरिश्चन्द्र को, जिसने खाने के लिये एक समय का भोजन भी पास न रखा, [illegible] अपनी और अपने [illegible] राज-पाट आदि सब [illegible]

स्वामिनी (मालिक) के कटु-शब्दों को प्रसन्नतापूर्वक सहते रहे और उस समय का स्मरण करके, किसका कठोर हृदय करुणा से द्रवित न हो उठेगा, जब इतनी विपत्ति सहने पर भी श्मशान में चाण्डाल के समय अपने एक मात्र-पुत्र के शव को देखकर, तथा अपनी अर्द्धांगिनी के विलाप को सुनकर भी सत्य से विचलित न हुए, तथा बिना कर लिये, अपने पुत्र का अग्नि-संस्कार न होने दिया।

हरिश्चन्द्र की तरह तारा भी संसार की पतिव्रता-स्त्रियों में एक है। जो, अपने पति को कर्त्तव्य से पराङ्मुख और विलास में मग्न होते देख सांसारिक-सुखों को तिलांजलि दे, उन्हें अपने कर्त्तव्य-पथ पर लाने तथा विलासिता के समुद्र में डूबने से बचाने में संलग्न हो गई। एक समय का भोजन मिलने की आशा न रहने की परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी, राज्य-सुख को भूला, पति के साथ-साथ वन के दुःसह दुःख सहन और स्वयं हज़ारों सेविकाओं से सेवित थी, इस बात का ध्यान न कर पति के साथ मज़दूरी करने में ही आनन्द मानने लगी। इतना ही नहीं, वरन् पति के वचन की रक्षा के लिये बहुत कष्ट सहे। एक मनुष्य का पेट भरने के लिये भी पर्याप्त नहीं है, उतने भोजन में पुत्र को भोजन कराया और उसी में स्वयं भी निर्वाह किया। इतना कष्ट सहकर भी [illegible] विपद्-समय में [illegible] की आशा किये [illegible] दुःख [illegible] दुःखी [illegible]

[illegible]

जन्म हुआ, जिस काल में ये हुए, जिस वंश को इन्होंने जन्म लेकर गौरवान्वित किया, उन सबको आज के लोग धन्य मानते हैं।

जिस प्रकार गौ में कामधेनु आदर्श मानी जाती है, उसी प्रकार कथाओं में हरिश्चन्द्र की कथा आदर्श है। इसे आदर्श मानकर तदनुसार आचरण करने वालों से, पाप सदा दूर ही रहा करते हैं और उन्नति दिन-प्रतिदिन समीप आती जाती है।

सत्यमूर्ति-

हरिश्चन्द्र-तारा

यदि, मनुष्य केवल नम्र ही नम्र रहे, या केवल कठोर ही कठोर रहे, तो संसार-व्यवहार में वह उत्तम योग्य नहीं माना जाता। जो मनुष्य, मिश्री की तरह होते हैं, अर्थात्—जिस प्रकार मिश्री मुँह मे रखने पर तो मिठास देती है, लेकिन शरीर पर मारने से चोट पहुँचाती है, इसी प्रकार जो मनुष्य सज्जनों के साथ तो नम्र, लेकिन दुर्जनों के साथ कठोर रहते हैं, वे ही संसार-व्यवहार मे कुशल माने जाते हैं। अस्तु।

इस अयोध्यारूपी फुलवारी में एक फूल ऐसा है, जो स्वयं भी सुगन्धित है और अपनी सुगन्ध से दूसरे फूलों को भी सुगन्धित कर रहा है। सारा संसार, इस फूल को उत्तम मानता और उसकी प्रशंसा करता है। इसी फूल का नाम है; राजा हरिश्चन्द्र। हरिश्चन्द्र, जहाँ अवध के निवासियों में उत्कृष्ट माने जाते थे, वहाँ इनमे सुगन्ध, कोमलता और कठोरता के गुण भी विशेष थे।

फूल, यदि यह समझ ले, कि मैं स्वतंत्र हूँ, डाली के आश्रित नहीं हूँ, अतः डाली किसी कार्य की वस्तु नहीं है; तथा डाली यदि यह समझले, कि फूल मेरे पर केवल बोझ-रूप है, इससे मेरा कोई लाभ नहीं है, तो दोनोंही की शोभा नष्ट होजायगी। फूल की शोभा तभी तक है, जबतक वह डाली पर है और डाली की शोभा भी तभी तक है, जब तक कि उस पर फूल है। इसी के अनुसार, बड़े के यह समझने पर कि 'मैं बड़ा हूँ और अन्य लोग तुच्छ हैं,' और छोटों के यह समझने पर कि यह बड़ा हमारा कुछ भी बिगाड़-बना नहीं सकता, हम स्वतन्त्र हैं काम नहीं चलता। ऐसा होने पर दोनोंही को हानि पहुँचने की सम्भावना हो जाती है। जब, अपने-अपने धर्म को मानकर, बड़ा तो

ग्रह ग्रहीत पुनि वात वश, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय वारुणी, कहहु कवन उपचार॥

कह देना ही पर्याप्त है। एक और कवि ने कहा है:—

यौवनं धन सम्पत्ति प्रभुत्व मविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमुयत्र चतुष्टयम्।

अर्थात्—जवानी, धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अज्ञानता, इनमें से प्रत्येक अनर्थकारी है। जहाँ ये चारों एकत्र हों, वहाँ की तो बात ही न पूछिये।

युवावस्था में मस्त मनुष्य, प्रायः काम-भोग में विशेष रत रहता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उसे बहुत कम ध्यान रहता है। उसका ध्यान तो केवल स्त्रियों के सौन्दर्य, उनके हाव-भाव आदि में ही रहता है और उसके समय का विशेष भाग इन्हीं कार्यों में व्यतीत होता है। पुरुष की ऐसी अवस्था में, यदि स्त्री भी इसी प्रकार की प्राप्त हो गई, वह भी युवावस्थावश काम-भोग की चेरी बन गई, तब तो पुरुष के साथ वह स्वयं भी विलास के भारी गड्ढे में जा गिरती है और अपना तथा अपने पति का नाश कर लेती है। किन्तु, यदि कहीं सावधान तथा विवेकवान स्त्री हुई तो वह पति को विलास में डूबने से बचा लेती है और आप स्वयं भी बच जाती है।

इस युवावस्था रूपी पिशाचिनी ने हरिश्चन्द्र को भी धर दबाया। यद्यपि इसने हरिश्चन्द्र को विलास प्रिय बना दिया, परन्तु वह पर स्त्री की ओर उनका ध्यान ले जाने में असमर्थ रही। हाँ, अपनी नव-विवाहिता परमसुन्दरी रानी तारा के मोहपाश में

विषय सुख से और मछली जीभ के विषय सुख से नाश हो जाती है। तो, जो एक ही मनुष्य, इन पाँचों विषयों का सेवन करता होगा, वह बेमौत क्यों न मरता होगा?

इसीके अनुसार, महाराजा हरिश्चन्द्र, सब प्रकार से पतन गहरे गड्ढे की ओर जा रहे थे। उनको, इसका किंचित भी ध्यान न था कि मैं नीचे की ओर जा रहा हूँ। वे तो यही सोचते कि संसार में ऐसा आनन्द, दूसरा हैही नहीं। अर्थात्—इस पतन को ही वे आनन्द समझ रहे थे।

यद्यपि, राजा स्वयं विलासप्रिय बन चुके थे, लेकिन रानी तारा चतुर और विवेकवान थी। अत. उन पर विलासिता का वैसा प्रभाव न पड़ा। पति की दशा को देख, तथा दासियों द्वारा प्रजा के दुःख, कर्मचारियों के अन्याय और राज्यकार्य न देखने के कारण, प्रजा द्वारा अपने पति की निन्दा को सुन, रानी को विचार हुआ, कि जिस प्रजा के पीछे पति राजा और मैं रानी कहलाती हूँ, जिस प्रजा के धन को हम अपने उपयोग में लाते हैं, जिस प्रजा के दुःख को मिटा उसकी रक्षा करना पति का और हम सब का परम कर्तव्य है [illegible]

[illegible]

श्रौर उन्हें विष के सदृश त्याज्य समझा जाता। फिर, मेरे पति के गौरव श्रौर सौन्दर्य पर कलंक लगने का क्या कारण है ?

विचारते-विचारते रानी को ध्यान हुआ, कि इस कलंक से प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका सम्बन्ध तो मोह से है। जिस प्रेम के लिये पति-पत्नी सम्बन्ध स्थापित होता है, वह प्रेम, तेज, उत्साह आदि का नाशक नहीं, अपितु वर्द्धक है। जो, तेज, उत्साह श्रादि का नाश करे, अज्ञानता, अकर्मण्यता आदि की वृद्धि करे, जिसके होने पर मनुष्य किसी एक वस्तु-विशेष के सिवाय, संसार के दूसरे सद्कार्यों से दूर हो जाय, जो मनुष्य की मनुष्यता का ही लोप कर दे, उसका नाम मोह है प्रेम नहीं। मुझ पर, पति का प्रेम नहीं, वरन् मोह है। लेकिन मैं अबतक इस बात को न समझ सकी और मेरी यह भूल ही मेरे पति के यशचन्द्र में कलंक लगानेवाली सिद्ध हुई है। मुझे, अब उचित ही नहीं है, बल्कि मेरा कर्त्तव्य है, कि मैं पति के मोह को दूर कर, उन्हें कर्त्तव्य पथ पर स्थिर करूँ और उनके, अपने तथा कुल के कलङ्क को धो डालूँ।

स्त्री, जिस प्रकार पति की सेविका होती है उसी प्रकार वह पति की शिक्षिका भी हो सकती है। अच्छे-कार्यों में पति की सहायता करना और उन्हें बुरे कामों से बचाना पत्नी का कर्त्तव्य है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उपायों [illegible] इसी

अन्यायों का विरोध नहीं करती, यहाँ तक कि प्रजा की पुत्रियों और कुलवधुओं के सतीत्व हरण करने पर भी, उसे अन्याय कहने का साहस नहीं कर सकती, वहाँ उस समय की प्रजा को अपनी ही स्त्री के मोहजाल में फँसे हुए राजा को, कटु-आलोचना करने में कुछ भी भय न था। इस अन्तर का कारण कर्त्तव्य को न समझना और उस पर स्थिर न रहना है। मनुष्य जब तक स्वयं सच्चरित्र न हो, स्वयं नीति और धर्म का पालन करता हो, तब तक दूसरे के दुराचार, अनीति और अधर्म का विरोध नहीं कर सकता।

दासियों ने प्रजा के मुख से जो कुछ सुना था, उसे रानी को सुनाया। रानी, प्रजा की बातों को सुन कर, प्रजा की प्रशंसा करने लगीं, तथा अपने पति का मोह दूर करने के लिये और भी अधीर हो उठीं। लेकिन, इसके साथ ही उन्हें यह चिन्ता और हो गई कि पति का मोह किस प्रकार दूर किया जाय।

बड़े आदमियों को, कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना उतना ही कठिन है, जितना कठिन सूखी लकड़ी को झुकाना। उसमें भी फिर राजाओं का सुधारना, कि जिनकी हठ प्रसिद्ध है। लेकिन उद्योगी-मनुष्य के लिये कोई कार्य, असम्भव नहीं है। असम्भव किस वस्तु का नाम है, इसे उद्योगी मनुष्य जानते भी नहीं। उनका तो सिद्धान्त रहता है कि —

"देह पातयामि वा कार्यं साधयामि"

अर्थात्—या तो कार्य सिद्ध ... छोड़ेंगे, अथवा उस पर मर मिटेंगे।

रानी विचारने लगीं कि मैं पति को किस प्रकार सुमार्ग पर लाऊं । अन्त में उन्होंने पति का मोह मिटाने के लिये उपाय विचार लिया और उस उपाय को कार्यरूप में परिणत करने के लिये उद्यत होगई ।

मोहनाश का उपाय

उत्तम मनुष्य दूसरों को सुमार्ग पर लाने के लिये दूसरों को सुधारने के लिये—स्वयं कष्ट सहन किया करते हैं। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनके जीवन-चरित्रों मे यह बात भली प्रकार सिद्ध है कि उन महापुरुषों ने जो दुःख उठाया है, वह दूसरों को सुधारने के लिये, दूसरों को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लाने के लिये। स्वयं कष्ट सहकर, त्याग दिखलाकर, एवं स्वयं आचरण करके जो उपदेश दिया जाता है, जो आदर्श उपस्थित किया जाता है, उसका प्रभाव अचूक और स्थायी होता है। जो लोग केवल दूसरो को उपदेश देने में कुशल हैं, लेकिन अपने आपको उन उपदेशो से अकारण ही मुक्त समझते हैं ऐसे लोगो के उपदेश निरर्थक सिद्ध होते हैं। तथा उनसे कोई लाभ नहीं होता आज के आधुनिक उपदेशक, शिक्षक, अधिकारी और नेताओं में यह दोष पाया जाता है, यही कारण है कि वे अपने उपदेशों द्वारा सुधार करने में, तथा जनता को कुमार्ग से हटा, सुमार्ग पर लाने मे असफल होते हैं।

बहुत से लोग, दूसरो के दुर्गुण मिटाने के लिये, स्वयं भी

जीवनधन, अपने हृदयेश्वर, अपने प्राणाधार को मोह के दलदल से निकाल, संसार को दिखला दूँगी, कि स्त्री-प्रेम कैसा होता है, स्त्रियें क्या कर सकती हैं और स्त्रियों का कर्त्तव्य क्या है। मैं, स्वयं विलासिता को त्याग, विलासिता उत्पन्न करने वाली वस्तुओं तथा ऐसे कार्यों को तिलांजलि दे, अपने पति को मोहावस्था से जागृत करूँगी। मैं, वैरागिन नहीं बनूँगी, परन्तु उस शृङ्गार को, उन आभूषणों को, उस हँसी कटाक्ष आदि को, जो मेरे पति के मस्तक पर, मेरे श्वसुर के निर्मल वंश पर, जो एक राजा के कर्त्तव्य पर, जो पुरुष के पुरुषार्थ पर कलङ्क लगा रहे हैं, अवश्य त्याग दूँगी। मैं, पति की दासी हूँ, पति मुझे प्राणों के समान प्रिय हैं, वे मेरे ईश्वर के समान पूज्य हैं, अतः उनसे प्रेम नहीं त्याग सकती, न रूठ ही सकती हूँ। परन्तु उन्हें मोहावस्था से सचेत करने के लिये उनकी मोह-निद्रा को भङ्ग करने के लिये, उन पर लगे हुए कलङ्क को धो डालने के लिये, मैं प्रकट में वह रूप धारण करूँगी, जो रूठने के अन्तर्गत कहा जा सकता है। इतना ही नहीं मैं मरणान्तक कष्ट सहकर भी अपने पति को कर्त्तव्य-परायण बनाऊँगी। उन्हें अपनी भूल दर्शाऊँगी, और उन्हें सुधारकर उनकी प्रजा तथा नीतिज्ञ तथा प्रजा-वत्सल राजों में बनाऊँगी। और स्त्री जाति के लिए आदर्श उपस्थित कर दूँगी कि अपने [illegible] को किस प्रकार [illegible] और [illegible] सकती है, अपने पति की [illegible] में नहीं त्याग [illegible] स्थायी [illegible] करें।

कहाँ तो आज की वे स्त्रियें, जो पति को अपने मोह-पाश में आबद्ध रखने के लिये अनेक उपाय करती हैं, देवी-देवताओं की मिन्नतें लेती हैं, जादू-टोना बराबर पति को वश में रखने की चेष्टा करती हैं, और पति को अपने वश में पाकर, पति को अपना आज्ञाकारी सेवक जानकर, प्रसन्न होती हैं, अपना गौरव समझती हैं और उनके तथा अपने सर्वनाश का कुछ भी ध्यान नहीं रखतीं। और कहाँ तारा, जो पति को अपने मोहपाश से छुड़ाने, उन्हें कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर करने और कलङ्क से बचाने का उपाय कर रही है। तारा के समान स्त्रियों के चरित्र ने ही आज भारतीय स्त्री-समाज को गौरवान्वित कर रखा है।

देखते ही देखते रानी ने, उन वस्त्राभूषणों को, जिन्हें वे शृङ्गार के निमित्त बड़े चाव से पहनती थीं—जिनके धारण करने पर उनकी सुन्दरता, सोने में सुगन्ध की तरह बढ़ जाती थी, जो उन्हें अबतक विशेष प्रिय थे, जिन्हें वे अपने रूप-लावण्य की वृद्धि में सहायक मानती थीं—एक दम फेंक दिये और ऐसे साधारण वस्त्राभूषण धारण किये, कि जो आवश्यक थे, तथा जिनसे वे कभी प्रेम न करती थीं। उन्होंने, यह कार्य उसी प्रकार कर डाला, जैसे सांप एक केंचुल को त्यागकर दूसरी को धारण किया करता है। उन्होंने अपने चेहरे की हंसी और प्रफुल्लता को भी एक दम गम्भीरता में परिवर्तित कर दिया।

रानी को, शरीर के उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण त्यागते देख, दासियां घबरा उठीं। रानी के गम्भीर चेहरे को देखकर तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे, रानी से सविनय पूछने लगीं, कि आज आप यह क्या कर रही हैं? वस्त्राभूषण क्यों फेंक

रही हैं और आपके स्वभाव तथा आकृति के इस अचानक परिवर्त्तन का कारण क्या है ? रानी से इसका कोई उत्तर न था, वे फिर कहने लगीं, कि आप इन्हें धारण कीजिये और अपनी गम्भीरता का कारण बताइये। लेकिन रानी आज वस्त्राभूषणों की दासी रहने वाली, कृत्रिम-उपायों द्वारा अपने सौन्दर्य को बढ़ाने-वाली हंसी-खुशी द्वारा अपने पति को पतनावस्था में ढकेलने वाली न रही थीं। बल्कि आज उनके विचार इसके विपरीत थे। उनने दासियों पर कृत्रिम-क्रोध प्रकट करते हुए, उन्हें झिड़क कर कहा, कि मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है और भविष्य के लिये भी मैं तुम लोगों को सचेत किये देती हूँ, कि मेरे पास ऐसी कोई वस्तु न लाई जाय।

जो रानी, राग-रंग में सदामत्त रहती थीं, जिनका चेहरा सदा प्रसन्न रहता था, गम्भीरता या चिन्ता के चिन्ह जिनके चेहरे पर कभी न देखे जाते थे, वस्त्राभूषणादि शृङ्गार जिन्हें बहुत प्रिय थे, उन रानी के स्वभाव में एक दम ऐसा परिवर्त्तन देख और उनका यह उत्तर सुन; दासियों की घबराहट और भी बढ़ गई। वे, रानी के ऐसा करने के कारण का अनुमान भी न कर सकीं और विचारने लगीं कि आज रानी को क्या हो गया, जो उनने योगिनियों की तरह वैराग्य दशा धारण की है और इस प्रकार गम्भीर बन गई हैं। दासियों ने दौड़कर, रानी के स्वभाव-परिवर्त्तन की सूचना, राजा को दी। यह संवाद पाते ही, राजा अपनी मुख्य रानी की चिन्ता में अधीर हो उठे और तत्क्षण रानी के महल में आये। रानी की ऐसी दशा देख, राजा की चिन्ता और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। रानी की मुखमुद्रा

को देखकर सहम उठे। राजा ने, कामी-पुरुषों के स्वभावानुसार, डरते हुए रानी से पूछा—आज तुम्हें यह क्या हुआ है ?

तारा—क्या हुआ नाथ ! आप यह प्रश्न किस बात को देखकर कर रहे हैं ?

हरिश्चन्द्र—जिस शरीर पर, तुम सदा शृङ्गार सजाये रहती थीं, जो अंग प्रत्यंग आभूषणों से लदे रहते थे, वे आज शृङ्गार और आभूषण से विहीन क्यों हैं ? तुम्हारा वह मुख, जो सदा प्रफुल्लित रहता था, आज गम्भीर क्यों देख पड़ता है ? तुम्हारी वह मधुर-मुसकान, जो मेरे मन को सदा विवश रखती थीं, आज कहाँ छिप गई ? प्रिये ! मैं यह जानने के लिये अत्यन्त व्याकुल हूँ, कि तुम मुझे देखकर सदा जो हाव-भाव दिखलाया करती थीं, उन हाव भाव ने आज निठुरता का रूप कैसे धारण किया ? एक राज्य की महारानी होकर, उदासीनता धारण करने का क्या कारण है ?

तारा—स्वामिन ! बस करो। झूठा प्रेम जताने के लिये इस प्रकार प्रशंसा करने की माफी चाहती हूँ।

हरिश्चन्द्र—झूठा प्रेम कैसा ? क्या मेरा यह प्रेम कृत्रिम है ? वास्तविक नहीं है ? क्या मैं तुम्हें प्रेम नहीं करता हूँ ?

तारा—नहीं नाथ कदापि नहीं। आप, मुझसे यदि सच्चा प्रेम करते होते, तो मुझे ऐसा कहने का अवसर ही क्यों आता ?

हरिश्चन्द्र—यह तुमने कैसे जाना, कि मैं तुमसे प्रेम नहीं करता हूँ ? आज, मेरे प्रेम के विषय में तुम्हें शङ्का होने का क्या कारण है ? तुम्हारे ऊपर तो मैंने राज्य-पाट भी न्योछावर

कर दिया, उस ओर कभी देखता भी नहीं, सदा तुम्हारे प्रेम का भिखारी बना रहता हूँ. तुम्हारे प्रेम के लिये संसार को भी तुच्छ नहीं समझता, और कहाँ तक कहूँ. यदि मेरी आराध्य-देवी हो. तो तुम्हीं हो । फिर यह शङ्का कैसी ?

रानी—स्वामी. अब मैं आपके इस झूठे भुलावे में नहीं आसकती । मैं. अबतक यह समझती रही. कि आप मुझसे प्रेम करते हैं. परन्तु मेरा यह समझना केवल भ्रम था ।

रानी की बातों को सुनकर. राजा विचार में पड़ गये कि जो रानी सदा विनम्र रहती थी; बात का उत्तर देना तो दूर रहा. कभी सन्मुख बोलती भी न थी. उस रानी को आज क्या होगया. जो वह इस प्रकार की बातें कर रही है । राजाने दासियों से. रानी के स्वभाव में इस प्रकार परिवर्तन होने का कारण पूछा. परन्तु दासियां क्या उत्तर देतीं ? राजा ने भी बहुत विचारा लेकिन ऐसा होने का कोई कारण उनकी समझ में न आया । अन्त विवश हो राजाने फिर रानी से पूछा—तुम्हारा चित्त कैसा है ?

रानी—क्या मैंने [illegible] की है ? या कोई विक्षिप्तता की [illegible] है [illegible] प्रश्न किया ?

राजा—[illegible] चित्त में कोई खराबी नहीं है तो ऐसा [illegible] करने का क्या कारण है ? और तुम्हारा वह प्रेम-व्यवहार [illegible] क्यों नष्ट होगया ?

रानी—मैं अब तक आपके [illegible] दिये [illegible] को प्यार और आपके [illegible] व्यवहार को प्रेम समझती [illegible] मैं अब [illegible] नहीं हूँ यह मेरा भ्रम [illegible]

खेल कराऊंगी। और उस खेल मे क्या लाभ हैं, यह मैं आपसे तभी बताऊंगी।

हरिश्चन्द्र—बस, इतनी ही सी बात के लिये तुमने निठुरता का रूप धारण किया था ? यही छोटीसी बात, मेरे प्रेम की परीक्षा है ? मैं, ऐसे एक नहीं, अनेक हरिण के बच्चे तुम्हें मंगवाये देता हूँ।

तारा—नहीं नाथ, दूसरे से मंगवाया हुआ हरिण का बच्चा, मैं कदापि नालूँगी। मैं तो वही सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा लूँगी, जिसे आप स्वयं लावें।

हरि०—अच्छी बात है, मैं स्वयं ही जङ्गल मे पकड़कर ला दूँगा।

तारा—लेकिन स्वामी, एक बात और है। वह यह, कि जबतक आप ऐसा मृग-शिशु न लावें, तबतक मेरे निवास-भवन में न पधारने की कृपा करें। आप, मेरे निवासस्थान में उसी समय पधारें, जब मेरी मंगाई हुई वस्तु प्राप्त कर चुकें।

राजा, आवेशवश रानी की इस बात का उत्तर 'ठीक है' देते हुए अपने महल को चले गये। उनको विश्वास है, कि मैं रानी की इस परीक्षा में, असफल नहीं रह सकता, और एक के बदले, कई सोने की पूंछवाले हरिण के बच्चे जङ्गल मे पकड लाऊंगा। प्रेमावेश के वश होने के कारण, राजा ने इस बात का विचार भी नहीं किया, कि रानी जैसा मृग-शिशु माग रही है वैसा अर्थात्-सोने की पूंछवाला, मृग या मृगशिशु ससार में होता भी है या नहीं। वे तो इसी विचार मे है कि मै शाघ्र ही रानी की इच्छा पूर्ण कर —— प्राप्त करूँ

रानी के विचार, राजा को सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा माँगकर और स्वयं ही लाने के लिये वचन-बद्ध करके, कष्ट में डालने के नहीं हैं, वरन उनका अभिप्राय, इस बहाने राजा को जङ्गल में भेजने का है। राजा, एक विशेष-समय से, महल से बाहर नहीं निकले हैं; वन की वायु, वन के दृश्य और वन-भ्रमण के लाभ को, वे विस्मृत-सा कर चुके हैं। अतः रानी को, इन सब का उन्हें पुनःअनुभव कराना अभीष्ट है। वे, विचारती हैं, कि महल में ही पड़े रहने के कारण, राजा की जो कान्ति घट गई है, राजा का जो उत्साह नष्ट-प्राय: होगया है, वह वन में कुछ समय रहने से, वृद्धि प्राप्त करेगा। वन के दुःखों को सहने से, इन्हें दुःख का अनुभव होगा और उसके साथ ही मुझ पर, इनका जो मोह है, वह भी कम हो जायगा।

से उपदेश प्राप्त करने के लिये ही, उसने हरिण के बच्चे के बहाने मुझे यहाँ भेजा है।

यह विचारते-विचारते, राजा को ध्यान हुआ कि मैं यहाँ किस कार्य से आया हूँ। मैं, रानी से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि सोने की पूँछ वाला हरिण का बच्चा ला दूँगा, अतः मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने का उपाय करना चाहिए, यहाँ बैठने से काम न चलेगा।

राजा, सरोवर के तट से उठ, वन के वृक्ष-लता आदि की छटा, भ्रमरों का गुञ्जार, हिंसक पशुओं की गर्जना और पक्षियों की किलोल-क्रीड़ा को देखते सुनते, सोने की पूँछ वाले हरिण के बच्चे की खोज में चले जा रहे हैं। उन्होंने, छः दिन तक अनेक वनों में, सोने की पूँछ वाले हरिण के बच्चे की निरन्तर खोज की, परन्तु उन्हें एक भी ऐसा हरिण का बच्चा न दिखाई दिया, जिसकी पूँछ सोने की हो।

सातवें दिन, राजा को अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकने का बहुत खेद हुआ। वे, निराश हो कहने लगे, कि मैं क्षत्रिय होकर स्त्री को दिये हुए वचन का भी पालन न करके, उसे कैसे मुँह दिखाऊँगा? रानी! तेरी आकृति से, तेरे स्वभाव से, यह नहीं जाना जाता था कि तू कभी ऐसी अप्राप्य-वस्तु के लिये, मुझे प्रतिज्ञा-बद्ध करके कष्ट में डालेगी। यह निठुरता, यह विश्वासघात, तेरे हृदय में कहाँ छिपा था, जिसे मैं न जान सका?

राजा विचार करने लगे, कि रानी ने मेरे से ऐसी अप्राप्य-वस्तु माँगकर, मुझे जो कष्ट में डाला है, इसका क्या कारण है? रानी अकारण ही मुझे कष्ट में डाले, वन-वन भटकावे; यह तो सम्भव

रानी के सङ्गीत में मुझे न मिली। तू, स्वाभाविक-सरलता से अपना शब्द सुनाता है और रानी कृत्रिम सरलता से। तू, अपना सङ्गीत सदा अलापा करता है, किसी को देखकर नहीं, परन्तु रानी अपना सङ्गीत मेरे रहने तक ही अलापती थी, सदा नहीं। गायिकाओं के सङ्गीत भी मैंने सुने हैं, परन्तु उनमें तेरी तरह निःस्वार्थता कहाँ? वे तो भय और लोभ से अपना सङ्गीत सुनाती हैं, परन्तु तू अपना सङ्गीत निर्भय और स्वार्थ-भावना रहित होकर सुनाता है।

जलस्रोत! तू अपना अकृत्रिम-नाद सुनाकर सब को कृत्रिम नाद से बचने का उपदेश देता है और कहता है कि जैसा मेरा नाद अ-कृत्रिम है, वैसा ही तुम्हारे हृदय में भी अकृत्रिम नाद है। लेकिन, साथ ही तू यह भी बतलाता है कि जिस प्रकार मैं प्रकृति के नियमों का उल्लंघन न करता हुआ, हर्ष-शोक रहित, अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ, इसी प्रकार तुम भी हर्ष-शोक रहित; अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहो और प्रकृति के नियमों का पालन करो, तभी उस नाद का आनन्द प्राप्त कर सकते हो।

मित्र झरने! आज तक मैं, जिस नाद के सुनने में आनन्द मानता था, वह नाद कृत्रिम है, इस बात को आज तेरी सहायता से समझ सका। तेरी सहायता प्राप्त करने का अवसर, मुझे रानी की ही कृपा से प्राप्त हुआ है। रानी का यह कहना [illegible] था। वास्तव में, आज [illegible] अपमान ही करता रहा। हम लोग [illegible] निर्मल और अकृत्रि[illegible] अपमान ही है। सम्भवतः तु

नहीं। बिचारते-बिचारते, विचार-मग्न राजा हर्ष में उछल पड़े और कहने लगे—रानी ! तूने मेरे से जो सोने की पूँछ वाला हरिण का बच्चा माँगा है, उसका कारण मैं समझ गया। वास्तव में, मैं तेरा अनादर ही करता था। मैं स्वयं विषय-भोग में लिप्त रहूँ, अपने कर्त्तव्य को न देखूँ, और तुझे अपनी विषयेच्छा की पूर्ति का साधन बनाऊँ, यह कदापि तेरा आदर नहीं कहला सकता। तूने, मुझ से सोने की पूँछ वाला हरिण का बच्चा माँग कर, और वह भी स्वयं लाने के लिये वचन-बद्ध करके, तथा जब तक न लाऊँ, अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराकर, मेरा ही उपकार किया है। इसमें न तो तेरा कुछ स्वार्थ ही है, न मुझे कष्ट में डालना ही तेरे को अभीष्ट है। तेरा ऐसा करने का अभिप्राय यही है, कि न तो मैं इस प्रकार का हरिण का बच्चा ला ही सकूँगा, न तेरे महल को ही आ सकूँगा। और इस प्रकार मैं उस विषय-विष से—जिसे मैं अब तक अमृत समझता था, बच जाऊँगा। तूने, मेरा बड़ा उपकार किया है। तेरी ही कृपा से आज मुझे प्रकृति का वह अवर्णनीय-आनन्द प्राप्त हुआ है जिसकी मैं महलों में रहते हुए कल्पना भी नहीं कर सकता था। रानी ! तूने मुझे अपना कर्त्तव्य-पथ दिखा दिया है और इस कर्त्तव्य-पथ के कण्टकों को भी तूने अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराकर साफ़ कर दिया है। [illegible] मैं तुझे अनेकों धन्यवाद देता हूँ और तेरी इस कृपा का आभारी हूँ। मैं नहीं [illegible] प्राप्त [illegible] का सका हूँ, [illegible] कि तू मुझ से [illegible]

लेकिन तेरी वह [illegible] कर्त्तव्य पर [illegible]

[illegible] सहायता

इन विचारों से, राजा का चित्त प्रसन्न हो उठा और उन्होंने नगर की ओर प्रस्थान किया ।

नहीं। विचारते-विचारते, विचार-मग्न राजा हर्ष से उछल पड़े और कहने लगे—रानी! तूने मेरे से जो सोने की पूँछ वाला हरिण का बच्चा माँगा है, उसका कारण मैं समझ गया। वास्तव में, मैं तेरा अनादर ही करता था। मैं स्वयं विषय-भोग में लिप्त रहूँ, अपने कर्त्तव्य को न देखूँ, और तुझे अपनी विषयेच्छा की पूर्ति का साधन बनाऊँ, यह कदापि तेरा आदर नहीं कहला सकता। तूने, मुझ से सोने की पूँछ वाला हरिण का बच्चा माँग कर, और वह भी स्वयं लाने के लिये वचन-बद्ध करके, तथा जब तक न लाऊँ, अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराकर, मेरा ही उपकार किया है। इसमें न तो तेरा कुछ स्वार्थ ही है, न मुझे कष्ट में डालना ही तेरे को अभीष्ट है। तेरा ऐसा करने का अभिप्राय यही है, कि न तो मैं इस प्रकार का हरिण का बच्चा ला ही सकूँगा, न तेरे महल को ही आ सकूँगा। और इस प्रकार मैं उस विषय-विष से-जिसे मैं अब तक अमृत समझता था, बच जाऊँगा। तूने, मेरा बड़ा उपकार किया है। तेरी ही कृपा से आज मुझे प्रकृति का यह अवर्णनीय-आनन्द प्राप्त हुआ है, जिसकी, मैं महलों में रहते हुए कल्पना भी नहीं कर सकता था। रानी! तूने मुझे अपना कर्त्तव्य-पथ दिखा दिया है। और उस कर्त्तव्य-पथ के कण्टकों को भी तूने अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराकर साफ कर दिया है। प्रिये! मैं तुझे अनेकों धन्यवाद देता हूँ और तेरी इस कृपा का आभारी हूँ। मैं तेरी इच्छित-वस्तु प्राप्त नहीं कर सका हूँ, इसलिये सम्भव है, कि तू मुझ से निठुर हो रहे। लेकिन तेरी वह निठुरता, मुझे कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर-प्रदान करनेवाली सहायता होगी, निठुरता नहीं।

इन विचारों से, राजा का चित्त प्रसन्न हो उठा और उन्होंने नगर की ओर प्रस्थान किया।

रानी की चिन्ता

शिक्षा देने वाले, यद्यपि ऊपर से तो कठोर-व्यवहार करते हैं; परन्तु उनके हृदय में, शिक्षा प्राप्त करने वाले के प्रति, सदैव दया, कृपा और सहानुभूति के ही भाव रहते हैं। वे, जिसे शिक्षा देते हैं, उसके लिए उनके हृदय में दुर्भाव नहीं रहता, इसी से वे उन शिक्षाओं को हृदयस्थ कराने के लिये, हर उचित उपाय से काम लेते हैं। एक कवि ने कहा है—

उपरि करवाल धारा, कारा क्रूरा भुजङ्गम पुङ्गवाः ।
अंतः साक्षा द्राक्षा, शिक्षा गुरवो जयन्ति केऽपिजनाः ॥

अर्थात्—शिक्षा देने वाले गुरु, ऊपर से तो तलवार की धार जैसे तीक्ष्ण और काले भुजङ्ग जैसे भयानक दीखते हैं, परन्तु उनका हृदय दाख की तरह नरम और मधुर रहता है

एक दूसरे कवि ने भी कहा है —

> गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ है, घड़ घड़ काढ़ै खोट
> भीतर से रक्षा करे, ऊपर लगावे चोट ।

अर्थात—गुरु और कुम्हार, दोनों एक ही प्रकार के होते हैं।

सकी हैं। इस खबर को सुनते ही, रानी के मन पर चिन्ता का साम्राज्य छा गया। वे कहने लगीं, कि नाथ वन को, मेरी ही वस्तु की खोज में गये होंगे, लेकिन मैंने ऐसी वस्तु माँगी है, जो कि मिल ही नहीं सकती। हृदयेश्वर! आज आपको वन में न मालूम किन-किन कष्टों का सामना करना पड़ रहा होगा, सूर्य के ताप और मार्ग की थकावट से आपकी क्या दशा हो रही होगी, आज आपको भोजन भी कहाँ प्राप्त हुआ होगा! इस अभागिनी ने ही आपको इन कष्टों में डाला है। परन्तु स्वामी! इसमें मेरा किंचित् भी स्वार्थ नहीं है। मुझे, आपका, प्रजा का और मेरा कल्याण, ऐसा करने में ही नज़र पड़ा, इसीसे मैंने आपको इस प्रकार वन जाने के लिये विवश किया है। प्राणाधार! मैं आपको अपना हृदय चीरकर दिखा सकती हूँ, कि मेरे हृदय में आपके प्रति कैसा प्रेम है। लेकिन, मेरे इस प्रेम से इस समय, आपको कष्ट प्राप्त हो रहा होगा, अतः मैं भी प्रण करती हूँ कि जबतक आपके दर्शन न करूँ, अन्न-जल कदापि ग्रहण न करूँगी, [illegible] इच्छा पर संकट ही करूँगी। आप तो वन में भूख प्यास से कष्ट सहें, वन की कठोर-भूमि पर शयन करें, और मैं भोजन-पान तथा सुखपूर्वक-शयन द्वारा आनन्द करूँ, यह सर्वथा अनुचित है। मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ, जब आप दुःख सहें और मैं सुख करूँ, यह [illegible]

[illegible]

राजा की चिन्ता के लिए, रानी को इसी प्रकार के दिन व्यतीत हो गये। इन सात दिनों के अन्तर्गत तो कोमल ही दिन, क्या ही किया। इनमें दिनों में, रानी के हृदय में जो-जो भाव उत्पन्न हुए, उनका वर्णन करना कठिन है।

आठवें दिन, चिन्ता-ग्रस्त रानी, महल के समीप वाले उपवन में जाकर एक कुञ्ज पर बैठ गई और उस कुञ्ज के कमल को सम्बोधन कर कहने लगी—कमल! इस समय तू कैसा प्रसन्न-चित्त विकसित होकर, अपनी छटा को फैला रहा है! यदि इस समय कोई तुझे उखाड़ डाले, तेरी प्रसन्नता और छटा का भङ्ग हो जाय, तो कितना बुरा हो! तुझे, जिस प्रकृति ने बनाया है, उसे तेरे बनाने में कितना समय लगा है, परन्तु तेरे नाश करनेवाले को कुछ भी समय नहीं लग सकता। लेकिन, जो तुझे बनाने में समर्थ नहीं है, उसे तेरे को बिगाड़ने का क्या अधिकार है? ऐसा करनेवाला निन्दनीय हो नहीं, घोर पातकी भी है। जिस प्रकार तुझे प्रकृति ने बनाया है, इसी प्रकार, मेरे पति-कमल को भी उनके माता-पिता ने बनाया है। उनके बनाने में, उनके माता-पिता को न मालूम कितना समय लगा होगा और उनके लालन-पालन में न मालूम कितने कष्ट उन्होंने सहे हों। परन्तु मुझ पापिनी ने इसका कुछ भी विचार न करके, उन्हें एक-क्षण में ही उखाड़ दिया। मैं, घोर-पापिनी हूँ, जो मैंने उस वस्तु के बिगाड़ने का साहस किया, जिसको मैंने नहीं बनाया था। हाय! इन सात-दिनों में, पति पर न मालूम क्या-क्या कष्ट पड़े होंगे और उन्हें कितने सङ्कटों का सामना करना पड़ रहा होगा।

पति के कष्टों की कल्पना करती हुई रानी, गम्भीर चिन्ता-सागर

में ऐसी निमग्न हो गई, कि उन्हें अपने आपकी भी सुधि न रही। लेकिन, सच्चे-हृदय वालों को किसी चिंता में, विशेष-समय तक नहीं रहना पड़ता। इसके अनुसार, रानी को भी इस चिन्ता समुद्र में विशेष-समय तक गोता न खाना पड़ा।

उधर, राजा वन से लौटकर विचारने लगे, कि पहिले मैं इस रानी को तो देखूँ, जिसने मुझे सात दिन तक वन में भटकाया है। मेरे, वन जाने और कष्ट सहने का उसे दुःख है या आनन्द, इस बात का तो पता लगाऊँ। क्योंकि स्त्री की परीक्षा कष्ट के ही समय होती है, सुख के समय नहीं।

राजा, यह विचारकर, सब से पहले रानी के महल में गये परन्तु रानी वहाँ न देख पड़ीं। दासियों से पूछने पर, राजा को मालूम हुआ कि रानी इस समय समीप के उपवन में हैं। महाराजा हरिश्चन्द्र, उपवन में आये। वहाँ, कृश-शरीर रानी को कुण्ड पर, ध्यानस्थ योगियों की तरह चिन्तामग्न देख, राजा विचारने लगे, कि मैंने वन में रहकर, जितने कष्ट उठाये हैं, उनसे अधिक कष्टों का अनुभव, रानी महल में ही कर रही है। मैं, अपने शरीर को, वन में रहने पर भी उतना दुर्बल नहीं देखता जितना दुर्बल रानी का शरीर है। सम्भवतः रानी मेरी ही चिन्ता में डूबी हुई है, लेकिन मैं अब इसे अधिक देर तक चिन्ता में न रहने देकर, शीघ्रही चिन्ता-मुक्त करूँगा।

इस प्रकार विचार करके, राजा ने कहा—प्रिये तारा! सकुशल तो हो?

राजा के इन शब्दों के श्रवण में पड़ते ही, रानी के हृदय में एक प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। वे, पति के शब्द को सुन,

विचारने लगी, कि ये शब्द तो पति के ही प्रतीत होते हैं, तो क्या ये आगये ? अवश्य आगये होंगे, अन्यथा मुझे 'प्रिये' कहकर कौन सम्बोधन करता ?

राजा को आया जान, रानी के हृदय में अपार आनन्द हुआ। लेकिन, उन्होंने अपने इस आनन्द को प्रकट न होने दिया। उन्होंने विचारा, कि हर्षावेश में मैंने, स्वामी के सम्मुख यदि इस आनन्द को, प्रेम-प्रदर्शन द्वारा प्रकट कर दिया, तो जिस अभिप्राय से मैंने, नाथ को इतने दिन वन में भटकाया है, वह असफल हो जावेगा। स्वामी, पुनः मेरे मोह में लिप्त होजावेंगे, जिससे उन पर का वह कलङ्क, जिसे मैं मिटाना चाहती हूँ, न मिटा सकूँगी।

रानी ने, यह सोचकर, गम्भीरता भरी कटाक्ष दृष्टि से राजा की ओर देखकर पूछा-प्रभो ! आप पधार गये ?

राजा—हाँ प्रिये, मैं आगया।

रानी—हृदयवल्लभ ! मेरी माँगी हुई वस्तु कहाँ है ?

राजा—प्रिये ! तुम विचारो तो सही, कि जो वस्तु तुमने माँगी है, क्या उसका प्राप्त होना सम्भव है ? तुम, एक राज-वंश की ललना हो, एक राजवंश की कुल-वधू हो, एक राजा की सहधर्मिणी हो फिर तुममें इतनी अज्ञानता रहे, यह कितने आश्चर्य की बात है ! ऐसा मृग-शिशु जिसकी पूँछ सोने की हो प्रत्यक्ष देखना तो दूर रहा कभी स्वप्न में भी देखा है, या किसी से सुना अथवा पुस्तकों में भी पढ़ा है ? यदि नहीं, तो फिर ऐसा मृग-शिशु होता है, इसका क्या प्रमाण ? मैंने सात-

दिन तक वन में निरन्तर ढूँढा, परन्तु मुझे एक भी ऐसा मृग या मृगशिशु न दिखाई दिया, जिसकी पूँछ सोने की हो। यदि ऐसे मृग या मृगशिशु—जिनकी पूँछ सोने की हो—संसार में होवे, तो कदाचित मैं उन्हें पकड़ न पाता, परन्तु क्या वे मेरी दृष्टि से भी छिपे रहते? मैं नहीं कह सकता कि तुमने सर्वथा अप्राप्य-वस्तु माँगकर, मेरी इतनी कठिन परीक्षा क्यों ली है, कि जिसमें मैं कदापि सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अब, मेरे कथन पर विश्वास करो, और निठुरता को छोड़, शृङ्गार धारणकर प्रेम का व्यवहार करो।

रानी—अच्छी बात है नाथ! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह आपके लिये अशोभनीय है, यह तो मैं नहीं कह सकती, परन्तु मुझ अभागिनी के लिये आपके हृदय में स्थान कहाँ है? जो, मेरी माँगी हुई वस्तु आप मुझे ला दें। आपके राज्य में, सब के लिये तो सब कुछ है, परन्तु मेरे लिये तो केवल तिरस्कार और कपट भरा शुष्क प्रेम ही है। यदि, मैंने आपसे अप्राप्य-वस्तु माँगी थी, तो आपको उसी समय कह देना चाहिए था, जिसमें उसके लिये न तो मैं ही प्रतिज्ञा करती, न आप ही से प्रतिज्ञा कराती। आपभी क्षत्रिय हैं और मैं भी क्षत्राणी हूँ। अपनी प्रतिज्ञा पर— फिर वह चाहे सम्भव हो या असम्भव—दृढ़ रहना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है। इसके अनुसार मैं आपकी और आप मेरी भेंट से भी वञ्चित रहे और इच्छा भी पूर्ण न हुई। मैं, आप से पहले ही प्रार्थना कर चुकी थी कि आप मुझ से प्रेम नहीं करते हैं बल्कि मेरा अनादर करते हैं। इस बात की पुष्टि इस से और भी हो गई। इस अनादरपूर्ण-जीवन में

से सदा ही श्रेय है। (रानी को सम्बोधन करके) महिषे! पति से किसी प्रकार की आशा करना, दुराशामात्र है। अतः चलो, महल को चलें और अपना शेष-जीवन, भगवद्भजन में ही व्यतीत करें।

यह कहकर, कविता को साथ ले, रानी महल को चल दीं। राजा, उनसे कुछ कहने के लिये चलते ही रहे, परन्तु रानी ने न तो राजा के इस कथन पर ध्यान ही दिया, और न रुकीं ही।

रानी के, इस प्रकार चले जाने का तात्पर्य, राजा समझ गये। वे, विचारने लगे, कि रानी यह सब मेरे लाभ के लिये ही कर रही हैं, मेरे हित को ही दृष्टि में रखकर उन्होंने मुझसे अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराई है, अतः उनका यह व्यवहार सर्वथा क्षम्य है। कदाचित्, ऐसा समझना मेरा भ्रम भी हो, तब भी रानी जब स्त्री होकर मेरी अपेक्षा नहीं रखतीं, तब मैं पुरुष होकर उनकी अपेक्षा क्यों रखूँ? अबतक, जो विषयानन्द, लेते थे, वह दोनों समान रूप से ही लेते थे। फिर रानी तो उसके अभाव से दुःख नहीं मानती हैं, तो मैं दुःख क्यों मानूँ? यदि मुझे रानी का वियोग असह्य होगा, तो क्या रानी को मेरा वियोग असह्य न [illegible] और [illegible] उनको मेरा यह विषयानन्द [illegible] है [illegible] उनके सदा [illegible] असह्य [illegible] असमर्थ होते [illegible] रहे और हैं [illegible] कर्त्तव्य [illegible]

लाभ, सुख-दुःख आदि, जब समान ही होंगे, तब मैं ही चिन्ता क्यों करूँ ?

इस प्रकार विचार करके, राजा ने दृढ़ता धारण की और अपने महल को चले गये।

और पति दोनों ही समान हैं। मुझे पति किसी विषयेच्छा से तो प्यारे था नहीं रहे हैं, विषय-वासना को तो मैं पहिले ही त्याग चुकी हूँ, अतः मेरे लिये परमात्मा और पति, दोनों समान रूप हैं।

रानी, यद्यपि चिन्ता से मुक्त होने के लिये, चित्त को अनेक प्रकार से समझाती हैं, परन्तु वह राजा की थकावट आदि का स्मरण करके, रह-रहकर उसी ओर चला जाता है। रानी विचारती हैं कि मुझे इस समय क्या करना चाहिए? यदि मैं राजा की सेवा करने जाती हूँ, तो इस बात का भय है, कि राजा का मुझ पर फिर मोह हो जाय, तथा प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाय, और यदि नहीं जाती हूँ, तो हृदय को धैर्य नहीं होता।

रानी ने, दासी को बुला कर कहा—मल्लिके! स्वामी वनके अनेक कष्टों को सहकर आज आये हैं। क्षुधा, परिश्रम आदि से वे पीड़ित होंगे। अतः तू भोजन-सामग्री और तेल लेकर उनकी सेवा कर आ। यद्यपि यह कार्य है तो मेरा, परन्तु मुझ अभागिनी से राजा रूपी मणि दूषित हो गया है, और इस समय मेरे जाने से सम्भव है कि और भी दूषित हो जाय। अतः मेरे इस कार्य को तू ही कर आ। जिसमें पति की सेवा भी हो जाय और वे निर्दोष भी बने रहें।

रानी की बात सुनकर, मल्लिका कहने लगी—स्वामिनी, जान पड़ता है कि आज आप को पति-प्रेम से किसी बात का ध्यान नहीं है। यदि ऐसा न होता, तो आप मुझे इस समय राजा के समीप जाने को कदापि न कहतीं। रात का समय है, राजा अपने महल में अकेले हैं, मैं जाऊं और वे कामवश हो कोई अनुचित

उन कामोत्तेजक-पदार्थों ने, रात के समय, कालिदास के मन में विकार उत्पन्न किया। कालिदास, काम-पीड़ा से मुक्ति पाने की अभिलाषा से, प्रभावती के पास गये। और उससे भोग भोगने के लिये उपाय करने लगे! प्रभावती ने, कालिदास को अपने ऊपर हस्तक्षेप करते देख, उनसे कहा—पिताजी, सावधान रहिये। अपनी कन्या के ऊपर, यह क्या अत्याचार करने को आप तत्पर हुए हैं? कालिदास तो उस समय कामान्ध थे, उन्हें ऐसे समय में यह चिन्ता कब रहने लगी थी, कि यह मेरी कन्या ही है, या दूसरी कोई। उन्होंने, प्रभावती की बात सुनकर उससे कहा कि—बस! चुपचाप रह, अन्यथा जीवन की कुशल नहीं है।

प्रभावती समझ गई, कि मैंने ही इनको कामोत्तेजक-पदार्थ खिलाये हैं, अतः ये अपने वश में नहीं हैं। इस समय, इनका ज्ञान लुप्त होगया है। उसने कालिदास से कहा पिताजी, यदि आपकी इच्छा ऐसी ही है, तो कम से कम दीपक तो बुझा दीजिये। दीपक जल रहा है, क्या इसके देखते हुए, आप अपनी कन्या के साथ और मैं अपने पिता के साथ भोग भोगूँगी?

प्रभावती की बात सुन, कालिदास दीपक बुझाने गये। इतने में ही, प्रभावती उस पहले से सोचे हुए स्थान में चली गई और भीतर से कपाट बन्द कर लिये। कालिदास, लौटकर प्रभावती को भय दिखलाने लगे, प्रलोभन देने लगे, लेकिन प्रभावती ने यही उत्तर दिया कि आप सवेरे चाहे मुझे मार ही डालें, परन्तु इस समय मैं कदापि किवाड़ नहीं खोल सकती। कालिदास ने, प्रभावती को प्राप्त करने के लिये कई उपाय किये परन्तु वे उसे प्राप्त करने में असफल रहे

लीजिये। आपके मन में, जो विकार उत्पन्न हुआ, और आपने जो कुछ उत्पातादि किये, इनमें आपका कोई दोष नहीं है, यह तो राजा ने जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर-मात्र है। मैंने, प्रश्न का उत्तर देने के लिये, आपको ऐसे उत्तेजक-पदार्थ खिलाये थे, जिन्होंने आपको ऐसा करने के लिये, विवश कर दिया। अब तो आप अच्छी तरह समझ गये होंगे, कि काम का सच्चा-बाप एकान्त है। कभी मन खराब भी हो जाय, तथा स्त्री भी पास ही हो, तो भी यदि एकान्त न हो, अर्थात् वहाँ दूसरे मनुष्य मौजूद हों, तो वे बुरे विचार कार्यरूप में कदापि परिणत न हो सकेंगे। यह उत्तर, यदि मैं बिना अनुभव कराये देती, तो आपको विश्वास न होता। इसलिये, मैंने प्रश्न का उत्तर देने के पहले ही, उत्तर का अनुभव करा दिया।

कालिदास—यद्यपि तूने प्रश्न का उत्तर देने के लिये, जान-बूझकर मुझे ऐसे पदार्थ खिलाये, जिनसे मैं अपने आपे में न रह सका, तथापि तेरे साथ कुकर्म करने के, मेरे हृदय में विचार तो हुए! इन विचारों के आने का, मुझे क्या प्रायश्चित करना चाहिये?

प्रभावती—जब आप विवश थे; तब का प्रायश्चित क्या होगा? फिर भी, यदि आप प्रायश्चित करना ही चाहते हैं, तो आप भी प्रायश्चित करिये और आपके साथ में भी प्रायश्चित करती हूँ, कि भविष्य में, चाहे सगा बाप ही क्यों न हो, या सगी लड़की ही क्यों न हो, उसके साथ एकान्त में न रहने की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहें।

प्रभावती द्वारा प्राप्त उत्तर को, कालिदास ने भोज को सुनाया, जिसे सुनकर वह प्रसन्न हुआ।

सारांश यह कि काम-विकार को कार्यरूप में परिणत करने

का अवसर तभी प्राप्त होता है, जब स्त्री-पुरुष एकान्त स्थान में हों। इससे बचने के लिये, स्त्री-पुरुष का एकान्त स्थान में रहना त्याज्य माना गया है।

मल्लिका का उत्तर सुनकर, रानी कहने लगीं, कि तेरा कहना ठीक है। वास्तव में मैंने, पति-प्रेम के आवेश में कार्य के औचित्या-नौचित्य पर ध्यान नहीं दिया। लेकिन, अब मैं भी नहीं जाती। ईश्वर और सत्य पर विश्वास करके उन्हें सोने ही दो। जो कुछ होगा, वह अच्छा ही होगा।

६

कर्त्तव्य-पथ

धर्मात्मा-मनुष्य, सूर्योदय से पहले ही उठकर, परमात्मा का भजन करने में लग जाते हैं। वे, आलसियों की तरह सूर्योदय के पश्चात् तक, नहीं पड़े रहते। सूर्योदय के पश्चात् उठने में, वैद्यक-ग्रन्थों में भी कई हानियें बतलाई गई हैं। रात को, विशेष समय तक जागना और फिर सूर्योदय के पश्चात् तक सोते रहना, प्राकृतिक-नियम के भी विरुद्ध है। प्रकृति के, आवश्यक नियमों की अवहेलना करने वाला मनुष्य, अपने जीवन-स्वास्थ्य, उत्साह और लाभ की भी, अवहेलना करता है। ऐसा करने वाला मनुष्य, प्राकृतिक नियमानुसार दण्डित होता है। साराश यह कि कर्त्तव्य को समझने वाला मनुष्य, सूर्योदय के पहले ही उठकर परमात्मा के भजन में लग जाता है।

महाराजा हरिश्चन्द्र आज सूर्योदय से पहले उठे। आज, सूर्योदय देखने का अवसर उन्हें बहुत दिनों के पश्चात प्राप्त हुआ है। उनके हृदय में आज वह आनन्द है, ऐसा उत्साह है, शरीर में ऐसी स्फूर्ति है, मन ऐसा प्रसन्न है कि जिसका अनुभव उन्हें विशेष समय से न हुआ था। वे रानी को धन्यवाद देते हुए कहने

लगे कि—रानी ! मुझे वन के प्राकृतिक दृश्य देखने, निद्रा लेने और आज प्रातःकाल उठने में, जो आनन्द प्राप्त हुआ है, वह सब तेरी ही कृपा का फल है। तेरा, सोने की पूँछ वाला मृगशिशु माँगने का अभिप्राय, मुझे इन आनन्दों से भेंट कराना था। वास्तव में, मैं अपने जीवन को विषय-वासना में व्यतीत करके, कल्पवृक्ष को काट, बबूल बो रहा था, हाथी देकर गधा ले रहा था और अमृत को छोड़कर, विष पी रहा था। लेकिन तूने, मुझे मेरी भूल दर्शा दी। मैं, तेरा उपकार मानता हूँ और अपने ऊपर, तेरा यह बहुत बड़ा ऋण समझता हूँ। सोने की पूँछ वाला मृगशिशु, दैवयोग से कभी प्राप्त हो भी जाता, तब भी विषय-वासना में मुझे वह आनन्द न आता, जो विषय-पाश से मुक्त होने पर प्राप्त हुआ है।

नित्य के आवश्यक-कार्यों से निवृत्त हो, महाराजा हरिश्चन्द्र, सभा में जाकर राज्यासन पर बैठे। वह राज-सिंहासन, जो बहुत दिनों से खाली ही पड़ा रहता था, आज राजा के बैठने से सुशोभित हुआ। राजा के सिंहासनासीन होने पर, कुछ लोगों को तो आनन्द हुआ और कुछ को दुःख। वे राज-कर्मचारीगण, जो राजा की अनुपस्थिति में प्रजापर मनमाने अत्याचार करते और अपना स्वार्थ-साधन करते थे, तथा वे अनाचारी कार्यकर्त्तागण, जो राजा की अनुपस्थिति में निरङ्कुश थे, उन्हें तो राजा के राज्यासन पर आने से दुःख हुआ। राजा के राज्यासन पर आने के प्रथम ये लोग समझते थे कि राजा तो रानी के साथ विषय-भोग में पड़े हैं, अतः हम ही राजा हैं। आज राजा के आजाने से, उनके इन विचारों की सत्ता पर, तुषार-पात हो गया। इसलिये,

उन्हें, राजा के आने से दुःख हुआ। लेकिन, जो लोग राजा के शुभचिन्तक और न्यायप्रिय थे, जो अन्य कर्मचारियों के अत्या-चारों को देख-देख कर दुःखी थे, और जिन्हें 'राज्यासन' खाली रहना बुरा लगता था, वे लोग राजा के सिंहासन पर विराजने से आनन्दित हुए और कहने लगे, कि आज सूर्यवंश का सूर्य, सिंहासन रूपी उदयाचल पर, उदय हुआ है। इस तेजो राशि के उदय होने पर, अत्याचारी-उल्लूक, निश्चित ही छिप रहेंगे।

वे राजा, जो विशेष-समय से महल के बाहर भी न निकलते थे, राज्यकार्य की ओर जो कभी दृष्टि भी न डालते थे, आज अचानक और ठीक समय से भी पहले राज्य-कार्य देखने के लिये उद्यत हुए, इसके लिये लोग आश्चर्य करने लगे। राजा के स्वभाव में, अचानक इस प्रकार परिवर्तन के कारण का लोगों ने पता लगाया, तो उन्हें मालूम हुआ, कि रानी की कृपा से, राजा राज्य-कार्य में पुनः प्रवृत्त हुए हैं। रानी ने, सोने की पूँछ वाला मृग-शिशु न ला सकने के कारण, राजा को अपने महल में आने से रोक दिया, इसी पर से राजा को अपने कर्त्तव्य का ध्यान हुआ। लोगों ने, रानी की प्रशंसा की और उन्हें अनेक धन्यवाद दिये।

रानी के महल में न जाने के लिये, वचन-बद्ध होने के कारण राजा एकाग्र चित्त से राज्य-कार्य देखने में लगे रहते हैं। उनका सारा समय, राज्य-कार्य देखने, न्याय करने, प्रजा के दुःखों को दूर कर उसे सुख पहुँचाने आदि कार्यों में ही व्यतीत होता है। प्रजा के लिये, सदाचार आदि नीति-सम्बन्धी और कलाकौशल आदि व्यवसाय-सम्बन्धी शिक्षा का, उन्होंने ऐसा प्रबंध किया कि जिससे उनके राज्य में अपराधी का नाम भी न रहा। वे अपराध

के कारणों का पता लगाकर उनका ही नाश कर देते, जिसमें फिर अपराध होवें ही नहीं। न्याय भी, वे इतना उत्तम करते, कि किसी पक्ष को भी दुःख न होता। जिस प्रकार हंस, दूध और पानी को पृथक् कर देता है, इसी प्रकार मामलों मुक़द्दमों में राजा, सत्य और झूठ को अलग-अलग कर देते। कर्मचारियों द्वारा, किसी पर अत्याचार न हो, इसके लिये बहुत ही सावधानी रखते और प्रजा की चोर डाकू आदि उपद्रवियों से रक्षा करना, अपना परम कर्त्तव्य समझते। उनके इस प्रकार राज्य करने से, थोड़े ही दिनों में प्रजा सुख-समृद्धि सम्पन्न होगई, कोई दुःखी न रहा। हरिश्चन्द्र का, यह नीति-धर्ममय राज्य सत्य का राज्य कहलाने लगा और उनकी कीर्ति दिग्-दिगन्त में व्याप्त होगई। इस प्रकार, रानी के त्याग और उद्योग से, उनकी अपनी मनोकामना भी पूर्ण हुई, राजा अपने कर्त्तव्य पर भी आरूढ़ हो गये, तथा अपना एवम् अपने पति का कलंक भी धो डाला।

– –

करो। सत्य के ही प्रताप से, हमलोग यहाँ यह आनन्द भोग रहे हैं। इसीलिये, आज सत्य का ही गुणगान करके, यहाँ बैठे हुए देवता तथा अप्सराओं को, सत्य का महत्व सुनाओ।

सत्य का गान करने के लिये, इन्द्र की आज्ञा पाकर गायकगण बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने, गान और नृत्य द्वारा सत्य का जो सजीव दृश्य दिखाया, उससे सारी सभा प्रसन्न हो उठी और सत्य के साथ ही, नृत्यकारों की भी प्रशंसा करने लगी। गान नृत्य के समाप्त होने पर, इन्द्र कहने लगे:—

मेरे प्यारे देवताओ और अप्सराओ! आप लोगों ने जिस सत्य का नृत्य-गान अभी देखा-सुना है, और जिसे देखकर तथा सुनकर आप लोग प्रसन्न हुए हैं, वह सत्य साक्षात् में जिसके पास होगा, वह कितना आनन्दित होता होगा, इस बात को विचारो। सत्य सूक्ष्म है, अत. वह बिना साकार के उपयोग में नहीं आ सकता। और जबतक उपयोग में न आवे, किसी को प्रयोग में लाते न देखें, तब तक सत्य को समझने के लिए आदर्श नहीं मिलता। आप लोग देवलोक में हैं, तब भी सत्य की उस मूर्ति के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जिसके दर्शन का सौभाग्य मृत्युलोक के मनुष्यों को प्राप्त है। मृत्युलोक में, अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र ऐसा सत्यवादी है, कि मानो साक्षात सत्य ही हरिश्चन्द्र के रूप में हो। हरिश्चन्द्र में सत्य इस प्रकार व्याप्त है जैसे फूल में सुगन्ध, तिल में तेल या दूध में घृत। जिस प्रकार सूर्य में तेज सदैव और समुद्र में जल अथाह है इसी प्रकार हरिश्चन्द्र में सत्य सदैव और अथाह है। जिस प्रकार मेरु पर्वत अचल है उसी प्रकार हरिश्चन्द्र का सत्य भी अचल है

जिस प्रकार कोई सूर्य को चन्द्र, चन्द्र को सूर्य, लोक को अलोक, अलोक को लोक, और चैतन्य को जड़ तथा जड़ को चैतन्य बनाने में समर्थ नहीं है, इसी प्रकार हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने में भी, कोई समर्थ नहीं है। जैसे इनकी मर्यादा स्थिर है, वैसे ही हरिश्चन्द्र का सत्य भी स्थिर है। हरिश्चन्द्र का, कोई कार्य सत्य से खाली नहीं है। वह सत्य पर ध्रुव के सदृश अटल है। गङ्गा का बहाव पलटने में, समुद्र का अन्त ढूँढने में, जल से घृत निकालने में और चन्द्रमा से अग्नि बरसाने में, चाहे कोई समर्थ हो भी जाय, परंतु सत्य से हरिश्चन्द्र को विलग करने में, कोई कदापि समर्थ नहीं हो सकता।

हरिश्चन्द्र मृत्युलोक में है और हम देवलोक में हैं, इस विचार से आप उसे तुच्छ न समझें। धर्म-पुण्योपार्जन के लिए मृत्युलोक ही उपयुक्त है। मृत्युलोक में उपार्जित धर्म-पुण्य के ही प्रताप से, आप और हम इस लोक में आनन्द भोग रहे हैं। यह विचार कर भी, कि हरिश्चन्द्र मनुष्य है और हम देवता हैं, आप हरिश्चन्द्र को छोटा न मानें। जो धर्म-पुण्य मनुष्य-शरीर में हो सकते हैं, वे इस देव-शरीर में नहीं। शरीर का अन्त करने और जरा-मरण रहित होने के लिए, मनुष्य-जन्म ही धारण करना पड़ता है। मनुष्य-शरीरधारी जीव, बिना देव-योनि प्राप्त किये, मोक्ष जा सकता है, परन्तु देव-शरीरधारी बिना मनुष्य-जन्म धारण किए, मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते। [illegible] न तो वह मनुष्य है इसलिए छोटा समझ न [illegible] है इसलिए छोटा समझे न उपजन के [illegible]

एक ही वस्तु, प्रकृति की भिन्नता से भिन्न-भिन्न गुण देती है। जो जल सीप में पड़कर मोती बन जाता है, वही जल की सर्प के मुँह में गिरता है, तो विष बन जाता है। जो बात सज्जनों को सुख देनेवाली होती है, वही बात दुर्जनों को दुःख देनेवाली हो जाती है। जो वर्षा, संसार के सब वृक्षों को हरियाली-पूर्ण कर देती है, सब वृक्ष जिस वर्षा से प्रफुल्लित हो उठते हैं, उसी वर्षा से जवासा सूख जाता है। सारांश यह, कि अच्छी वस्तु भी, उलटी प्रकृतिवाले के लिए बुरी हो जाती है।

सज्जन-मनुष्य, दूसरे की प्रशंसा सुनकर, दूसरे में गुण देख कर प्रसन्न होते हैं, परन्तु वहाँ सज्जनों की प्रसन्नता का कारण, दुर्जनों की अप्रसन्नता का कारण बन जाता है। वे तो, केवल दूसरे की निंदा और दूसरे के दुर्गुणों से प्रसन्न होते हैं, जो सज्जनों को दुःख होने का कारण है।

इन्द्र द्वारा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर, और सब देव-अप्सरादि तो प्रसन्न हुए, वे हरिश्चन्द्र के सत्य और उसके साथ ही मृत्युलोक तथा मनुष्य-जन्म की सराहना करके सत्य-रहित देव जन्म को धिक्कारने लगे, लेकिन इन देवों में से एक देव को हरिश्चन्द्र की प्रशंसा अच्छी न लगी। वह इन्द्र के भय से प्रकट में तो कुछ न बोल सका, परन्तु हृदय ही हृदय में जल रहा था और विचारता था कि—यह इन्द्र है तो क्या हुआ, लेकिन इनको अपने पद की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है। देवताओं के सम्मुख सुरपति होकर, हाड़चाम से बने रोगादि व्याधियों से युक्त मनुष्य की प्रशंसा करना कितना पतन प्रकट करता है। मैं डरता हूँ, अन्यथा इसी सभा में खड़ा होकर, इन्द्र के कथन का विरोध

प्रकट करते हुए कहा, कि क्या हरिश्चन्द्र हम देवताओं से भी बड़ा है, जो देव-सभा में उसकी प्रशंसा की जा रही है ? लेकिन, मैं इन्द्र के कथन का प्रतिकार मुख से न करके कार्य से करूँगा और जिस हरिश्चन्द्र की प्रशंसा इन्द्र ने बड़े गद्गद्-स्वर में की है, उस हरिश्चन्द्र को सत्य से पतित करके, इन्द्र को दिखला दूँगा कि अपने उस हरिश्चन्द्र की सत्य-भ्रष्टता देखलो, जिसके सत्य की प्रशंसा देव-सभा में करते हुए, आपने देवताओं को उससे तुच्छ होने के भाव दर्शाये थे। और हरिश्चन्द्र को सत्य की मूर्ति बतलाते थे, तथा इसके साथ ही मृत्युलोक और मनुष्य-जन्म की भी सराहना करते थे।

दुर्जनों को विशेषतः सद्गुणों से ही द्वेष होता है। इसीसे वे दूसरे की सद्कीर्ति सुनकर या दूसरे को सुखी देखकर ईर्ष्याग्नि से जलने लगते हैं। जिस प्रकार राहु चन्द्रमा को ग्रसने की चिन्ता में रहता है, उसी प्रकार वे दूसरे की कीर्ति, सुख और गुण ग्रसने की चिन्ता में रहते हैं तथा इसके लिए उपाय सोचते एवं अवसर की प्रतीक्षा किया करते हैं। इन्द्र ने, यदि हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की, या हरिश्चन्द्र में सत्यपरायणता थी, तो इससे उस देव की कोई हानि न थी परन्तु दुर्जन के स्वभावानुसार, वह अकारण ही हरिश्चन्द्र के आदर्श सत्य और इन्द्र से भी ईर्ष्या करने लगा।

संसार में ईर्ष्या के बराबर [illegible] दुःख नहीं है। ईर्ष्या यद्यपि अग्नि नहीं है परन्तु फिर भी यह जिसमें होता है, उसके शरीर को निरन्तर दग्ध किया करता है। ईर्ष्या करनेवाले का चित्त, किसी अवस्था में भी प्रसन्न नहीं रहता। वह, इस विचार से

भीतर ही-भीतर जला करता है कि यह गुण, यह सुख, या य
यश-वैभवादि इस दूसरे को क्यों प्राप्त है। फिर चाहे, वे ही गुण
-वैभव इस ईर्ष्या करनेवाले को भी क्यों न प्राप्त हों, परन्तु व
इन्हीं को दूसरे के समीप नहीं देख सकता।

वह देव, क्रोध और ईर्ष्या से भरा हुआ घर आया। उसकी
स्त्रियें (अप्सराएँ) उसकी आकृति देखकर डर उठीं कि आज
ये न मालूम क्यों अप्रसन्न हैं। उन्होंने, डरते-डरते अपने पति
पूछा, कि आज आपका चित्त क्यों मलीन है? आँखें क्यों ला
हैं और शरीर क्यों काँप रहा है? जान पड़ता है, कि आपको
समय क्रोध हो रहा है। अत हम जानना चाहती हैं, कि आ
किस पर क्रुद्ध हैं? क्या देव-सभा में इन्द्र ने, आपका कोई अ
मान किया है, या किसी और ने आपको ऐसी बात कही
जिससे आपको क्रोध हो आया—या और कोई कारण है?

देव—क्या तुम लोग देव-सभा में न थीं?

अप्सरायें—हम भी वहीं थीं और अभी वहीं से चली
रही हैं।

देव—फिर तुम्हें नहीं मालूम है कि वहाँ क्या हुआ था?

अप्सरायें—मालूम क्यों नहीं है। वहाँ सत्य के विषय
सत्य-गान हुआ था और उसके पश्चात इन्द्र ने हरिश्चन्द्र के
की महिमा वर्णन की थी।

देव—क्या यह अपमान कम है? हम देव-शरीरधारि
के सम्मुख हमारी ही सभा में हमारा ही राजा, मृत्युलोक
मनुष्य की प्रशंसा करे और हम उसे सुनें, इससे ज्यादा अप

पड़ेगा, परन्तु क्रोधवश इस समय उनको बात के औचित्यानौचित का ध्यान नहीं है। इन्हीं कारणों से, ज्ञानी-पुरुष, क्रोध-त्याग क उपदेश देकर कहते हैं कि क्रोध से सदा बचो।

देव के स्वभाव से, उसकी अप्सराएँ परिचित थीं। वे विचा रने लगीं, कि स्वामी को दूसरे के गुण और दूसरे की प्रशंसा से द्वेष है। इनका यह रोग असाध्य है। इसलिये इस विषय में इनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ कहना, इनकी क्रोधाग्नि में आहुति डालना है। हरिश्चन्द्र के सत्य की प्रशंसा सुनकर, अन्य देव की तरह इन्हें भी प्रसन्न होना चाहिए था, परन्तु प्रसन्नता के बदले इनके हृदय में ईर्ष्याग्नि भभक उठी है। उन्होंने, देव से फिर पूछा, कि आप हरिश्चन्द्र को सत्य-भ्रष्ट किस प्रकार करेंगे

देव—इसका भी उपाय मैं कुछ न कुछ विचार ही लूँगा लेकिन, पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुम लोगों को मैं जो आज्ञा दूँगा, उसका पालन करोगी या नहीं? मैं, तुम्हारी भी कसौटी करूँगा, कि तुम कहाँतक पति-आज्ञा का पालन करती हो। उस तुच्छ-मनुष्य की प्रशंसा में सब लोग एक तरफ हो गये किसी ने भी इन्द्र के कथन पर विरोध प्रदर्शित न किया, यह विचारकर, मेरा हृदय क्रोध से दग्ध हो रहा है। मुझे, उस समय शान्ति मिलेगी, जब मैं हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करके इन्द्र से कह दूँ कि तुमने हमारे सामने जिस मनुष्य की सत्य की प्रशंसा की थी उसकी सत्य-भ्रष्टता देख लो और प्रशंसा करने का पश्चाताप करो। अच्छा, यह बताओ कि इस कार्य मे तुम, मैं जो आज्ञा दूँगा, उसका पालन करोगी?

देवकी बात सुनकर, अप्सराएँ आपस में मन्त्रणा करने लगीं

लेकिन जब ऐसा करने के लिये विवश की जाती हैं, तो चारा ही क्या है? शास्त्रकारों ने, इस बात को स्पष्ट कर दिया है, कि यदि विवश होकर किसी अनुचित-कार्य में प्रवृत्त होना पड़े, तो अपना हृदय निर्मल रखे। ऐसी दशा में, उस अनुचित-कार्य के अपराध से बहुत कुछ बचजाता है। इसी के अनुसार हमलोग निर्मल हृदय हैं, विवश होकर पति के इस अनुचित कार्य में सहयोग कर रही हैं। अतः अपना कोई अपराध न होगा। बल्कि हम तो पति-आज्ञा-पालन का लाभ भी प्राप्त करेंगी और उसके साथ ही हरिश्चन्द्र के दर्शन का लाभ भी प्राप्त करेंगी।

इस प्रकार विचार करके, अप्सराओं ने देव को उत्तर दिया कि—हमतो आपकी आज्ञाकारिणी ही हैं, आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है, अतः आप जो आज्ञा देंगे, हम उसका पालन करेंगी।

अप्सराओं का उत्तर सुनकर, देव इस विचार से प्रसन्न हो उठा, कि कार्य के विचार में ही शुभ-लक्षण दीख पड़े। अप्सराओं ने हरिश्चन्द्र को सत्य से डिगाने के कार्य में, मेरी आज्ञा पालना स्वीकार कर लिया। अब तो मैं, निश्चय ही हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित कर दूँगा। मैं, जबतक हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित न कर दूँ, तबतक मेरे देव-जन्म को धिक्कार है, मेरे देवलोक में रहने को धिक्कार है, और मेरे सम्यक्त्व-उत्पत्ति को भी धिक्कार है

८

षड्यन्त्र

दुर्जन-मनुष्य, जब किसी का बुरा करना चाहते हैं तब वे किसी षड्यन्त्र से काम लेते हैं। जिस प्रकार क्षत्रिय, लोग यह विचारते हैं, कि इस स्थान पर किस अस्त्र-शस्त्र से काम लिया जाय, उसी प्रकार दुर्जन-मनुष्य उपाय के सम्बन्ध विचारते हैं। वे उपाय, उचित हैं या अनुचित, प्रशंसनीय हैं या निन्दनीय, इस बात पर वे विचार नहीं करते। उन्हें तो, केवल दूसरे की हानि करना अभीष्ट होता है। ऐसे मनुष्यों के लिये एक कवि ने कहा है:—

> पातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।
> पातयितुमस्ति शक्तिर्वायोर्वृक्षं न चोन्नमितुम् ॥

अर्थात्—नीच-मनुष्य, पराये काम को बिगाड़ना जानता है, पर बनाना नहीं जानता। वायु, वृक्ष को उखाड़ सकता है, पर जमा नहीं सकता।

इसी प्रकार दुष्ट-मनुष्य, यह जानते हुए भी, कि हम किसी का भला नहीं कर सकते, अकारण ही लोगों की हानि किया करते हैं। अस्तु।

अप्सराओं की बात सुनकर देव प्रसन्न हुआ। लेकिन इस

प्रसन्नता के साथ ही, वह दूसरी चिन्ता में पड़ गया, कि हरिश्च
का सत्य भङ्ग करने के लिये, किस उपाय से काम लिया जाय
विचारवान मनुष्य को, अपनी वृत्तियों के अनुसार कोई न क
उपाय सूझ ही जाता है। इसी के अनुसार, देव ने इस कार्य
सफलता का उपाय सोच लिया। उसने विचारा, कि इस कार्य
विश्वामित्र को अपना अस्त्र बनाना उपयुक्त होगा। उनकी प्रकृ
क्रोधी है, वे भी अपने क्रोध को शान्त करने के लिए, प्रत्ये
सम्भव-उपाय से काम लेते हैं, अतः उन्हें अस्त्र बनाने से,
कार्य में निश्चय ही सफलता प्राप्त होगी। मैं, यदि प्रत्यक्ष
हरिश्चन्द्र से कोई छल करूँगा, तो सम्भव है कि वह सावधान
जाय। इसलिये, मैं तो अप्रकट रहूँगा और विश्वामित्र को ह
श्चन्द्र से भिड़ा दूँगा। विश्वामित्र, स्वभावतः क्रोधी हैं, के
उनके क्रोध को बढ़ा देने भर का काम है। एक बार हरिश्च
पर जहाँ उनका क्रोध भड़क उठा, फिर वे किसी के वश के न
हैं और हरिश्चन्द्र को येन-केन प्रकारेण अपमानित करके
छोड़ेंगे। हरिश्चन्द्र की ख्याति, सत्य के ही कारण है, अतः वि
सत्य-भङ्ग किये, उसका अपमान नहीं हो सकता। विश्वामि
अपना क्रोध मिटाने के लिये उसे सत्य से ही पतित करेंगे, अ
इस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी।

हरिश्चन्द्र पर विश्वामित्र को कैसे कुपित किया जाय, इस
लिये देव ने विचारा, कि अप्सराओं द्वारा विश्वामित्र के आश
का उपवन नष्ट कराया जाय। उपवन के नष्ट होने से, वे निश्च
ही अप्सराओं पर क्रुद्ध होंगे। अप्सराओं पर क्रुद्ध होकर वे इ
[illegible] केवल शारीरिक-दण्ड देंगे। बस, शा

मित्र के क्रोध से बचकर, वे हरिश्चन्द्र की शरण जायेंगी। हरिश्चन्द्र शरण देने के लिए तो प्रसिद्ध हैं ही, इसलिए वह निश्चय ही इन अप्सराओं की रक्षा करेगा। अप्सराओं की रक्षा करने से, विश्वामित्र की क्रोधाग्नि हरिश्चन्द्र पर निश्चय ही भड़क उठेगी और इस प्रकार यह षड्यंत्र सफल हो जायगा।

देव ने, अप्सराओं को आज्ञा दी, कि तुम विश्वामित्र के आश्रम को जाकर, उनके आश्रम के समीप जो उपवन है, उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दो। विश्वामित्र के क्रोध से तुम किंचित् भी भय न करना और वे जो कुछ दण्ड दें, उसको सहन करती हुई, हरिश्चन्द्र की शरण लेना। हरिश्चन्द्र की शरण जाने पर, वह तुम्हें उस दण्ड के कष्ट से मुक्त कर देगा, बस तुम चली आना। तुम्हारी, इतनी ही सहायता से मैं, अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लूँगा।

देव की आज्ञा पाकर, अप्सराएँ विश्वामित्र के आश्रम को आईं। और उनके उपवन में क्रीड़ा करती हुईं, उसे नष्ट-भ्रष्ट करने लगीं। विश्वामित्र के शिष्यों ने उन्हें रोका, समझाया और विश्वामित्र का भय दिखाया, परन्तु वे न मानीं। बल्कि, कोई उन शिष्यों की हँसी उड़ाने लगी, कोई उन्हें डाटने लगी और कोई कहने लगी कि हमें प्रत्येक स्थान पर क्रीड़ा करने का अधिकार है [illegible] शिष्यों का जब उन अप्सराओं पर कोई असर न [illegible] अनधिकार [illegible] विश्वामित्र [illegible] विश्वामित्र का क्रोध [illegible] शिष्यों ने कह [illegible]

डालती हैं, जिससे हमने दिनों तक की हुई मेहनत व्यर्थ जा र[illegible]
है। वे, रोकने पर भी नहीं रुकतीं, बल्कि हँस-हँसकर, [illegible]
आपको ऐसा करने की अधिकारिणी बतलाती हैं। उन्हें आप[illegible]
भी किंचिन्मात्र भय नहीं है।

शिष्यों की बात सुनते ही, विश्वामित्र की आँखें, क्रोध से
लाल हो उठीं। वे उपवन में आकर देखते हैं, कि अप्सराएँ
निर्भीकता-पूर्वक किसी वृक्ष के पत्ते तोड़ रही हैं, और किसी के
फल, फूल, डाली आदि। उन्होंने, क्रोधित होकर, अप्सराओं से
पूछा, कि तुम मेरे उपवन को क्यों उजाड़ रही हो? जानती नहीं
हो, कि यह आश्रम उन विश्वामित्र का है, जिनके क्रोध से आज
सारा संसार भयभीत हो रहा है! अब, तुम अपने कृत्य के लिए
मुझसे क्षमा प्रार्थना करो और यहाँ से शीघ्र ही भाग जाओ,
अन्यथा तुम्हें उचित दण्ड दूँगा।

विश्वामित्र की, क्रोध-भरी लाल आँखों को देखकर, तथा
उनकी बातों को सुनकर, अप्सराएँ किंचिन्मात्र भी भयभीत न
हुईं। उल्टे उन्हें देखकर हँसने लगीं और उनका उपहास करने
लगीं। उनमें से किसी ने कहा कि ये साधु बने हैं, जो स्त्रियों को
क्रीड़ा करते हुए रोकते हैं। कोई बोली—तुम साधु हो, तो
अपना काम करो। हमारी जो इच्छा होगी वह करेंगी, तुम हमें
कैसे रोक सकते हो?

[illegible] विश्वामित्र [illegible] आकृति [illegible]
[illegible] पराकाष्ठा पर पहुँ[illegible]
[illegible] विश्वामि[illegible]
[illegible] विश्वामित्र ने [illegible]

यह शाप देकर सन्तोष किया, कि "ऐ दुष्टाओ ! तुमने जिन हाथों से मेरे उपवन के वृक्षों को नष्ट किया है, लतादिक को तोड़ा मरोड़ा है, वे तुम्हारे हाथ, मेरे तप के प्रभाव से उन्हीं लताओं में बँध जायँ।"

तप की शक्ति महान होती है। इस शक्ति को न मानने की, किसी में भी शक्ति नहीं है। किन्तु जहाँ विवेकी-मनुष्य का तप संसार घटाने में सहायक होता है, वहाँ अविवेकी-मनुष्य की तपस्या उसके संसार बढ़ाने का ही हेतु हो जाती है, मोक्ष का हेतु नहीं। तप की शक्ति के आधीन देवता भी हैं। जिसमें तप की शक्ति है, उसका वरदान या शाप मिथ्या नहीं होता।

अप्सराएँ, देवांगना होने के कारण, शक्ति-सम्पन्न थीं, परन्तु तप-बल के आगे उनकी कोई शक्ति न चली। विश्वामित्र का शाप होते ही उनके कोमल-हाथ, लता द्वारा वृक्षों में बँध गये और वे तड़फड़ाने लगीं। उन्होंने, छूटने के अनेक उपाय किए, परन्तु एक भी सफल न हुआ। देवांगनाओं को बँधी देख, विश्वामित्र उनसे कहने लगे, कि अब तुमने मुझे देख लिया कि मैं कौन हूँ, मुझ में क्या शक्ति है, और मैं क्या कर सकता हूँ ? मैं, पहले समझाता था, तब न मानी, अब उसका फल भुगतो और युग-युगान्तर तक बँधी रहो। मैं तुमको और भी कठिन-दण्ड दे सकता था, यहाँ तक कि तुम्हें भस्म भी कर सकता था, परन्तु मैंने तुम पर स्त्री होने के कारण दया की है। इसलिए इतना ही दण्ड दिया है।

इस प्रकार शाप-प्रदान करके विश्वामित्र अपने समाधि-स्थल को चले गये।

देव ने जब देखा, कि विश्वामित्र ने अपने तप-बल से, अप्स-
राओं को वृक्षों में बाँध दिया है, तब वह एक अनुपस्थित-मेरक
का रूप बना, हरिश्चन्द्र के भृत्यों में सम्मिलित हो गया। उसका,
ऐसा करने का अभिप्राय यह था, कि किसी प्रकार हरिश्चन्द्र को
इस ओर लाकर, इन अप्सराओं को उसके हाथ से छुड़ाऊँ,
जिसमें विश्वामित्र का सब क्रोध हरिश्चन्द्र पर पलट जाय।

नीतिज्ञ-राजालोग, अपने नित्य के राज्य-कार्य से निवृत्ति
पाकर बाहर घूमने निकला करते हैं। आज के अनेक राजाओं ने,
इस घूमने के कार्य को, निर्दोष-पशुओं के शिकार में परिणत कर
दिया है। परन्तु यह, धर्म-शास्त्रों को न पढ़ने-सुनने और सत्संग
न करने का कारण है। अब के राजा लोग, यदि बाहर निकले
भी, तो या तो शिकार के अभिप्राय से निकलेंगे, या मोटर पर
इस प्रकार निकलेंगे, कि वे लोग, जो राजा से कुछ प्रार्थना करना
चाहते हों, मौका पड़ने पर मोटर के नीचे कुचल ही जायँ।
इसके सिवाय स्थान-स्थान पर पुलिस का ऐसा पहरा हो जायगा,
कि लोग, राजा को अच्छी तरह देख भी न पावेंगे। यह तो बहुत
दूर की बात है, कि कोई उनको अपना दुःख सुना सके। लेकिन
पहले के राजालोग, इस अभिप्राय से घूमने निकला करते थे, कि
एक तो वे दुःखी-मनुष्य, जो किसी कारण से राजा तक नहीं
पहुँच पाते, अपना दुःख राजा को सुना सकें। दूसरे वह प्रजा
जो राजा को पितावत समझती है, राजा के दर्शन कर प्रसन्न हो
जाय और राजा भी प्रजा को पुत्र की तरह देख ले। तीसरे
नगर देश, कमत, स्वच्छता आदि का भी निरीक्षण होजाय
और स्वयं का स्वास्थ्य भी अच्छा रहे। वे लोग, किसी धीमी

सवारी पर या पैदल, इस प्रकार आवाज दिलवाते हुए चलते थे, कि राजा के आने की सबको खबर हो जाय। फिर, जिसे जो कुछ प्रार्थना करनी होती, वह राजा से करता और राजा उसे ध्यानपूर्वक सुनकर, उसका दुःख मिटाने का उपाय करता।

नित्य की तरह राजा-हरिश्चन्द्र, राज्यकार्य से निवृत्त हो, घूमने निकले। नगर में होते हुए, वे जङ्गल में गये। जङ्गल में, उस सेवक का रूप धारण किये हुए देवता के कहने से, वे विश्वामित्र के आश्रम की ओर चले गये। आश्रम में बँधी हुई अप्सराओं ने, चोबदार की आवाज सुन उधर दृष्टिपात किया, तो मालूम हुआ कि कोई चवँर-छत्रधारी आ रहा है। अप्सराओं ने अनुमान किया, कि हो न हो, हरिश्चन्द्र ही इस ओर आ रहे हैं। हमारे बड़े भाग्य हैं, कि इस बहाने हमें हरिश्चन्द्र के दर्शन तो होंगे। लेकिन, सम्भव है कि हमारे चुप रहने से, हरिश्चन्द्र इस ओर ध्यान न दें और हम बंधी हुई ही रह जावें, तथा हरिश्चन्द्र के दर्शन भी न हों। अतः अपन सब मिलकर चिल्लाओ। जिसमें, हरिश्चन्द्र अपनी पुकार सुनकर इसी ओर आवें।

इस प्रकार विचार करके, अप्सराओं ने करुणोत्पादक-चीत्कार प्रारम्भ किया। उनकी दुःख भरी पुकार सुनकर, हरिश्चन्द्र ने सेवकों को आज्ञा दी, कि ऋषि-आश्रम के समीप कौन रोता है, शीघ्र पता लगाओ। सेवकगण, हरिश्चन्द्र की आज्ञा पाकर आश्रम में गये और लौटकर हरिश्चन्द्र से प्रार्थना की, कि आश्रम में चार कोमलांगी-अप्सराओं को, किसी ने, यहाँ निर्दयता-पूर्वक वृक्ष से बाँध रखा है। उन्हीं की यह पुकार है। वे आपसे मुक्त कर देने के लिये, प्रार्थना करती है

राजा के हृदय में, उन अप्सराओं के प्रति, दया उत्पन्न हुई। वे, तत्क्षण आश्रम में आये और उन अप्सराओं से पूछा कि—तुम को किसने और क्यों बाँध रक्खा है?

अप्सराएँ—हम, इस उपवन में क्रीड़ा करती हुई फूल तोड़ती थीं, अतः विश्वामित्र ऋषि ने क्रोधित हो, अपने तपोबल से हमें इन वृक्षों से बाँध दिया।

हरिश्चन्द्र—तुम को, ऋषि के आश्रम में आकर, विघ्न करना उचित न था। क्रीड़ा करने के लिये, अन्य-स्थानों की कमी नहीं है। तुमने, अपराध तो अवश्य किया है, लेकिन ऋषि ने तुम्हें जो दण्ड दिया है, वह अपराध से बहुत अधिक है। इसके सिवाय मुनि को दण्ड देना भी उचित न था, क्योंकि दण्ड देना, उनके अधिकार से परे की बात है। मैंने, दण्ड देने के ही लिये, राजदण्ड अपने हाथ में ले रक्खा है। दण्ड देना मेरा काम है, मुनि का काम दण्ड देना नहीं है।

अप्सराएँ—हम आप से प्रार्थना करती हैं, कि आप हमें बन्धन-मुक्त कर दीजिये।

हरिश्चन्द्र—मैं, तुम्हें छोड़ तो देता हूँ, परन्तु भविष्य में किसी ऋषि के आश्रम में विघ्न मत करना।

अप्सराएँ—अब कदापि ऐसा न करेंगी।

एक क्रोधी—तपस्वी के तपोबल की अपेक्षा, एक गृहस्थ [illegible] का [illegible] कहीं अधिक है। मनुष्य, तपस्या करके जितना [illegible] हो [illegible] भी क्रोध का दमन न कर सका, उसके [illegible] [illegible] है जो गृहस्थ होकर सब [illegible] है।

हरिश्चन्द्र ने, उन अप्सराओं को खोलने के लिए जैसे ही हाथ लगाया, वैसे ही वे बन्धन-मुक्त हो गईं और हरिश्चन्द्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने लगीं। हरिश्चन्द्र से आज्ञा पाकर, वे विमान में बैठ, आकाश में उड़ गईं। वहाँ से, हरिश्चन्द्र पर पुष्प वृष्टि करके, आपस में कहने लगीं.—

पहली—हरिश्चन्द्र के चेहरे पर, कैसा तेज झलक रहा है, मानो तेज की मूर्ति हो।

दूसरी—यह सत्य का ही तेज है। उनके हाथों में सत्य की कैसी विचित्र-शक्ति है, कि जिस बन्धन से छूटने में हम लोग देवांगना होते हुए भी हार मान चुकी थीं वही बन्धन, हरिश्चन्द्र के हाथ लगाते ही टूट गये। ऋषि का वह तपबल, जिसका प्रभाव मेटने में हम असमर्थ रहीं, हरिश्चन्द्र के सत्यबल से परास्त हो गया। हरिश्चन्द्र की ही कृपा से हम छूट सकी हैं, अन्यथा न मालूम कब तक ऐसी रहतीं। राजा के हाथ, वैसे तो साधारण ही हैं, सौन्दर्यादि में तो उनके हाथों से अपने हाथ कहीं बढ़कर हैं, परन्तु उनके हाथों में ऐसी असाधारण शक्ति है कि बन्धन खुलने में क्षण-मात्र की भी देर न लगी।

तीसरी—जिस हरिश्चन्द्र में सत्य का इतना तेज है, जो इस प्रकार पर-दुःख भंजक है उसके सत्य को डिगाने में, पति कदापि समर्थ नहीं हो सकते। पति का यह प्रण व्यर्थ है।

चौथी—यद्यपि तुम्हारा यह कहना ठीक है परन्तु पति-आज्ञा पालन का ही यह फल है कि हम लोग हरिश्चन्द्र के दर्शन पा सके और उसके साथ ही सत्य पर भी दृढ़ विश्वास हो गया

हम तो, पति की आज्ञा मानने में लाभ में ही हैं। पति आज्ञा पालन का कैसा प्रत्यक्ष फल मिला।

इस प्रकार बातें करती हुई, अप्सराएँ अपने घर आईं। भी, यह विचार कर अपने घर चला आया, कि हरिश्चन्द्र विश्वामित्र को क्रोध करने का कारण पैदा कर ही दिया है, आगे क्या होता है यह देखेंगे। आशा तो है, कि यह षड्य पूर्ण-रूपेण सफल होगा।

उधर, हरिश्चन्द्र भी अपने घर गये। अप्सराओं को छो का कार्य, उनकी दृष्टि में कोई महत्व न रखता था, इसलिए स्मरण भी न रहा, कि मैंने विश्वामित्र की बाँधी हुई अप्सरा को बन्धन-मुक्त किया है।

विश्वामित्र का कोप

दूसरे को दुःख देनेवाला, स्वयं भी दुःख में पड़ता है। किसी को आघात पहुँचाने में, अपने हाथ को भी चोट पहुँचती है। किसी दूसरे को अपमानित करने के लिए पहले स्वयं को ही निर्लज्ज बनना पड़ता है। सारांश यह, कि दूसरे की हानि करने में, स्वयं को भी हानि उठानी पड़ती है। लेकिन दूसरे को सुख पहुँचाने में, दूसरे को सम्मानित करने में, और दूसरे की रक्षा करने में, स्वयं को भी सुख अनुभव होता है। इसीलिए महापुरुष उपदेश देते हैं, कि किसी की आत्मा को कष्ट न पहुँचाकर, सुख पहुँचाओ, तो तुम स्वयं भी सुख पाओगे।

अप्सराओं को बाँधकर विश्वामित्र, अपने समाधिस्थल को गये। उन्हें इस बात का गर्व है कि मैंने अपने तपबल से अप्सराओं को बाँध दिया है। अब इन्हें खोलने की किसी में भी शक्ति नहीं है। जब मुक्त करूँगा, तब मैं ही। इनके पति आकर जब मुझसे, अनेक प्रकार का अनुनय-विनय करेंगे तब, मैं अपना क्रोध उतारकर इन्हें बन्धनमुक्त करूँगा।

विश्वामित्र, समाधि में बैठे किन्तु उनका चित्त समाधि में

भी अस्थिर ही रहा। उन्हे, रह-रहकर उन अप्सराओं का व्यवह
अपना क्रोध और अपने तप-बल से उनका बँध जाना, आदि ब
याद हो उठती थीं। समाधि न लगने के कारण, वे समाधि-स्
से बाहर आये। इतने में ही, शिष्यों ने आकर सूचना दी, कि
अप्सराएँ, जिन्हे आप ने अपने तपबल से बाँध दिया था, छूट
चली गईं। विश्वामित्र को, शिष्यों की बात सुनकर, बड़ा
आश्चर्य हुआ। वे विचारने लगे, कि क्या मेरे तप में इतनी
शक्ति नहीं रही? किन्तु यदि ऐसा होता, तो वे बँधती ही क्यों
उन्होंने, शिष्यों से प्रश्न किया, कि वे आप ही छूटकर चली ग
या किसी के छोड़ने से गईं?

शिष्य—उन्हें बाँधकर आप आये, उसके कुछ ही सम
पश्चात् राजा हरिश्चन्द्र वहाँ आये। हरिश्चन्द्र को देखकर वे ल
चिल्लाईं, जिसे सुनकर हरिश्चन्द्र वहाँ आये, और उनके ह
लगाते ही, उन अप्सराओं के बन्धन टूट गये।

शिष्यों की यह बात सुनते ही, विश्वामित्र के क्रोध-सा
में, द्विगुणी तरंगे उठने लगीं। वे, अपने आपे में न रह स
और कहने लगे कि क्या हरिश्चन्द्र को, मेरा, मेरे तपबल का
मेरे क्रोध का किंचित भी भय नहीं है? क्या इस पृथ्वी पर कोई
मनुष्य भी है जो मेरा उपेक्षा करता हो? क्या हरिश्चन्द्र को य
मालूम नहीं है कि बड़े-बड़े ऋषियों को मुझ से किस प्रकार ह
माननी पड़ी है? हरिश्चन्द्र? तूने मेरी बँधी हुई अप्सराओं
अपने राजमद में, अपने सत्य के अहङ्कार में, और अपनी स
त्यता दिखाने के लिए छोड़ तो दिया है परन्तु देख, मैं अप
तपबल से तुझ कैसा दण्ड देता हूँ कि तेरा सब घमण्ड मि

करेगा, तब उसकी प्रजा का कहना ही क्या है? कहावत है कि—"यथा राजा, तथा प्रजा"—अर्थात् जैसा राजा होगा, वैसी ही प्रजा होगी। जो राजा, स्वयं न्याय-परायण और सत्य-प्रिय होगा, उसकी प्रजा भी वैसी ही होगी। लेकिन, जब राजा ही अन्याय करने लगे, झूठ का प्रयोग करे, तब प्रजा में अपराधों की वृद्धि होना स्वाभाविक है। अस्तु।

न्यायासन पर बैठकर राजा, न्याय-कार्य में दत्त-चित्त हुए। वे, एक-एक न्याय-कार्य को इस प्रकार निपटाते जाते थे, कि वादी और प्रतिवादी, दोनों ही प्रसन्न हो उठते थे और अपनी हानि होने पर भी, किसी को दुःख न होता था।

न्याय और योग के कार्य में, बहुत कुछ समानता है। जिस प्रकार योगी, आत्म-चिन्तन के समय, अन्य सब बातों को भूल जाता है, उसका ध्यान केवल आत्मा के चिन्तन में ही रहता है, उसी प्रकार न्याय करने वाले को भी, न्यायकार्य के आगे अन्य बातें भूलकर अपने मन को न्याय में [illegible] देना होता है। योगी लोग, जैसे संसार के [illegible] को [illegible] समझते हैं, उसी प्रकार न्याय करने [illegible] भी [illegible] को [illegible] समझता है और दूसरे के [illegible] अपनी आत्मा में [illegible] वह न्याय-कार्य [illegible] न्याय-[illegible] हो सकता है। [illegible] वह [illegible] है और उसका न्याय अन्याय [illegible]

[illegible] हरिश्चन्द्र का यह नियम था, कि नित्य का कार्य [illegible], प्रजा का दुःख [illegible] मालूम होता था। [illegible]

जिनका वियोग होते ही प्राण निकलने लगते हैं, अर्थात उन
वियोग असह्य हो जाता है, और दूसरे वे, जो मिलने पर कठि
दुःख का कारण हो जाते हैं। यानी जिनसे मिलना भारी दु
की बात है। यह उनकी प्रकृति की भिन्नता का कारण है। जैसे
कमल और जोंक, एक ही साथ, एक ही पानी में पैदा होते
किन्तु उन दोनों के गुण पृथक्-पृथक् हैं।

सर्प और दुमुही (दो मुँहवाला साँप), दोनों एक ही जा
के जीव हैं। दोनों की आकृति आदि में भी, कोई विशेष अन
नहीं होता। किन्तु दोनों की प्रकृति में महदन्तर है। साँप
मनुष्य, पशु आदि को काटता है, जिससे उनके प्राण तक
जाते हैं, परन्तु दुमुही नहीं काटती। इसी कारण, जहाँ लोग
को देखकर भयभीत हो उठते हैं, उसे मारने तक को तैयार
जाते हैं, वहाँ दुमुही को देखकर प्रसन्न होते हैं, उसका दि
देना शुभ-शकुन मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। सा
यह, कि पूजा या निन्दा, सुख्याति या कुख्याति आदि बातें, अ
प्रकृति पर ही निर्भर हैं।

जिस प्रकार सर्प को देखकर, और लोग तो भयभीत
जाते हैं, परन्तु सर्प का मन्त्र जाननेवाला उससे भय नहीं क
इसी प्रकार सभा के और लोग तो विश्वामित्र के आने से स
हो उठे, कि ये न मालूम क्या गजब करेंगे, परन्तु हरि
निःशङ्क हैं।

समझा जावेगा। ऐसा अपराधी, राज्य द्वारा ही दण्डित हो सकता है, आप उसे दण्ड नहीं दे सकते।

विश्वामित्र—हमारे आश्रम में अपराध करे, हमारी अवज्ञा करे, और हम उसे दण्ड भी नहीं दे सकते ?

हरिश्चन्द्र—नहीं महाराज, आपको दण्ड देने का अधिकार नहीं है। आपकी अवज्ञा करनेवाला भी राज्य का अपराधी है और अपराधियों को दण्ड देने के लिये ही, मैंने राज-दण्ड धारण कर रखा है।

विश्वामित्र—जान पड़ता है, तेरे बुरे-दिन आये हैं, इसीसे तुझे ऋषियों की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है। जब तू, हमारे बनाये हुए नियमों के अनुसार राज्य-कार्य करके अपराधियों को दण्ड देता है, तब हम अपने आश्रम के अपराधी को दण्ड क्यों नहीं दे सकते ?

हरिश्चन्द्र—आप लोगों के बनाये हुए नियम ही कह रहे हैं कि दण्ड देने का अधिकार केवल राजा, या राजा द्वारा इस कार्य के लिये नियुक्त किये गये कर्मचारी को ही प्राप्त है, दूसरे को नहीं। ऐसी अवस्था मे, मैंने ऋषियों की या आपकी कोई अप्रतिष्ठा नहीं की है।

विश्वामित्र—अच्छा एक बात और बता। हमने, अपनी अपराधिनियों को तपोवन में वृक्ष में बाँध दिया था। यद्यपि वे अप्सराएँ थीं तथापि मेरे बन्धन को न तोड़ सकीं। लेकिन इस राज्य भर में एक ही मेरा शत्रु प्रतिद्वन्द्वी और मेरी अवज्ञा करनेवाला ऐसा है कि जिसने उन अप्सराओं को छोड़ दिया। वह छोड़ने

वाला अपराधी है या नहीं; और यदि है, तो किस दण्ड के योग्य है ?

विश्वामित्र की इस बात को सुनते ही, हरिश्चन्द्र को कल की बात स्मरण हो आई। वे समझ गये, कि ऋषि अपने तपबल का प्रभाव बतलाते हुए, यह बात मेरे पर ही कह रहे हैं। राजा ने हँसते हुए और उनके तपबल पर व्यंग करते हुए कहा — महाराज, यह बात तो मुझ पर ही है। क्योंकि, मैंने ही कल उन्हें बन्धन-मुक्त किया था। लेकिन, उनको छोड़ने में, न तो मेरा भाव आपसे दुश्मनी का था, न प्रतिद्वन्द्विता का और न अवज्ञा करने का ही। वे लोग, लता-वृक्षों से बँधी, दुःख पाती हुई चिल्ला रही थीं, इसलिये मैंने दया करके उन्हें छोड़ दिया। केवल दया ही नहीं, बल्कि मेरा कर्त्तव्य भी है, कि अनधिकारी, यदि किसी को बन्दी बनाकर रखे, तो उस बन्दी को मुक्त करके, उस बन्दी बनानेवाले को उचित दण्ड दूँ। मैंने तो केवल उन्हें छोड़ा ही है, और वह भी करुणा करके। ऐसी अवस्था में मेरा कोई अपराध नहीं है। इस मामले में, आप वादी हैं और मैं प्रतिवादी हूँ। अतः यदि आप उचित समझें, तो इस मामले का न्याय पंचों द्वारा करवा लिया जाय।

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर, विश्वामित्र विचारने लगे कि, मैंने तो यह सोचा था कि इस प्रकार इससे अपराध स्वीकार कराकर इसको [illegible] में इस तरह [illegible] परन्तु इसने तो मुझे ही अपराधी ठहरा [illegible] और [illegible] यह अपनी कृपा बता रहा है। विश्वामित्र को यह विचार आते ही वैसी ही निराशा हुई, जैसी निराशा अदालत में मुकदमा हार जानेवाले को

यह मेरी समझ में नहीं आता। किसी दुःख में पड़े हुए को, दुःख-मुक्त करने में, कायर और निर्दयी तो चाहे अज्ञान कहें, परन्तु दयावान और धीर तो इसे ज्ञान ही मानेंगे, तथा मौका पड़ने पर स्वयं भी इसे दुःख-मुक्त करने की चेष्टा करेंगे। आपकी दृष्टि में, यदि अप्सराओं को छोड़ देना अज्ञान और अपराध है, तो आप पञ्चों द्वारा इसका निर्णय करा लीजिए। यदि पञ्चों ने भी आपकी बात का समर्थन किया, तो मैं दण्ड का पात्र हूँ और साथ ही राज्य-पद के भी अयोग्य हूँ। उचित तो यह था, कि मेरे अप्सराओं के बन्धनमुक्त करने के कार्य से, आप यह विचार कर प्रसन्न होते, कि-इन्होंने क्रोध करके उन्हें बाँध दिया था और राजा ने अपना राजधर्म पालते हुए उन्हें छोड़ दिया, तो यह, अच्छा ही किया। लेकिन, इसकी जगह आप मुझे दोषी ठहराते हैं और मेरा अज्ञान बताते हैं। आपको, इसी पर से विचार लेना चाहिए था, कि यदि अप्सराओं का छोड़ा जाना राजधर्म के विरुद्ध होता, तो जो अप्सराएँ आपके तप बल से बँधी थीं, वे खुलतीं ही कैसे? महाराज, शान्तिपूर्वक विचार कीजिये और क्रोध को दूर कीजिये तो आपको मेरा यह कार्य अनुचित न दिखेगा।

दुराग्रही-मनुष्य उचित-अनुचित और न्याय-अन्याय को नहीं देखता, वह तो येन केन प्रकारेण अपना हठ ही पूरा करना चाहता है। इसी के अनुसार यहाँ भी विश्वामित्र, राजा से अपराध स्वीकार कराने का निश्चय किये हुए हैं। लेकिन राजा कह रहे हैं कि मैं केवल आपको प्रसन्न करने के लिये, कदापि झूठ नहीं बोल सकता। विश्वामित्र विचारते हैं कि यदि

मैं सन्तोष करता हूँ और राजा को किसी प्रकार भी नीचा भी दिखाता, तो यह मेरा और भी अपमान होगा। यदि, राजा के कथनानुसार, इस मामले का निर्णय, मध्यस्थ लोगों से कराता तो वे लोग निश्चय ही मेरे पक्ष को झूठा बतलावेंगे। [illegible] के लिये, आश्रम से यहाँ आने की एक भूल तो की ही है, अब यदि पंचों से न्याय कराता हूँ, तो यह दूसरी भूल होगी। राजा इस प्रकार तो अपना अपराध स्वीकार करता नहीं है, इसलिये किसी दूसरे उपाय से इसे बाध्य करना चाहिए, जिससे यह अपना अपराध स्वीकार कर ले। इस प्रकार विचार करके, विश्वामित्र कपट भरी प्रसन्नता दिखाते हुए बोले—हाँ, तो तुमने राजधर्म का पालन करते हुए इन अपराधियों को छोड़ा है, क्यों?

राजा—हाँ महाराज! इन्हें दुःखमुक्त करने के सिवाय, और और कोई अभिप्राय न था।

विश्वामित्र—ठीक है, लेकिन इसी प्रकार सब बातों में राजधर्म का पालन करेगा न?

हरिश्चन्द्र—अवश्य। यदि मैं किसी स्थान पर राजधर्म के पालन में असमर्थ रहूँ, तो फिर राजा कैसा?

विश्वामित्र—राजधर्म से [illegible] करना भी है। राजा [illegible] [illegible] इस बात को तू जानता है?

[illegible]

विश्वामित्र—मैं, तुमसे ससागर पृथ्वी और तेरे राज्य-वैभव
ी याचना करता हूँ ।

विश्वामित्र की बात सुनकर, हरिश्चन्द्र के चेहरे पर सल भी
आया। उन्होंने उसी प्रकार प्रसन्न-मन से कहा, कि राज्य क्या,
दि आप इस शरीर को भी माँगते, तो यह भी आपकी सेवा
ं अर्पण करता। राज्य माँगकर तो आपने मेरे सिर का बोझ
ाया है, इसके देने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ?

हरिश्चन्द्र ने, सेवक को पृथ्वी का पिण्ड * और जल की
री लाने की आज्ञा दी।

* —पृथ्वी दान में, मिट्टी का पिण्ड दान करने की प्रथा थी। उसको
ते समय, जितनी पृथ्वी देना होता, उतने का उच्चारण कर दिया जाता
ा। —सम्पादक।

११

राज्य-दान

दान, तप और संग्राम, ये तीनों ही कार्य, वीरता होने प
होते हैं । जो वीर नहीं, वरन् कायर हैं, वे इन तीनों में से कि
एक को भी नहीं कर सकते । जो पहिले ही शत्रुओं के आघा
से, मृत्यु से और गृह-कुटुम्ब के कष्टमय-भविष्य से भय करता
वह संग्राम में कदापि स्थिर नहीं रह सकता । शरीर के कष्ट, शी
ताप और वर्षा के कष्ट सहने और सांसारिक-मोह के त्यागने
जो वीर नहीं है, वह तप नहीं कर सकता। इसी प्रकार जि
स्वयं अपने ही पेट की चिन्ता है, जिस पर लोभ का पूरा प्रभ
जम गया है, जिसे अपने और अपने स्त्री-पुत्रादि का भवि
दुःखमय होने का भय है, वह दान नहीं कर सकता । सारांश य
कि दान करना भी वीरता का काम है कायर लोग दान नहीं
सकते । जिस प्रकार संग्राम के लिये वीरता चढ़ने पर उसे मित्र
शत्रुओं के आघात का प्रतिकार करने के और कुछ नहीं सूझ
अस्त्र लगने. मृत्यु होने और पीछे से घर के लोगों के रोने आ
की चिन्ता नहीं होती, जिस प्रकार तप के लिये वीरता चढ़ने
उसे, वैराग्य ही सूझता है वैराग्य के कष्ट स्त्री, पुत्र, गृह आ

वस्तु है, और धर्म एक तुच्छ-वस्तु है, परन्तु मेरी दृष्टि में रा
तुच्छ और धर्म महान् है। मैं, धर्म पालन के लिए इस राज्य
दान में दे रहा हूँ। राज्य को दान में देने का मुझे अधिकार
इसमें किसी की सम्मति की आवश्यकता नहीं। दान में,
देने से, मेरे पूर्वजों की कीर्ति, दिग्दिगन्त में फैलेगी, कि सूर्य
ही एक ऐसा है, जिसने राज्य तक दान में दे दिया। इस दा
दान से, सूर्यवंश के गौरव की वृद्धि होगी। किसी की
कहा है,—

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥

अर्थात्—इस परिवर्तन शील संसार में, मरकर सभी
लेते हैं, परन्तु जन्म लेना उसी का सार्थक है, जिसके जन्म
वंश की गौरव वृद्धि हो।

प्रधान ! मैं हठ में पड़कर राज्य नहीं दे रहा हूँ, बल्कि
याचक बनकर माँग रहे हैं, तब दे रहा हूँ। मैं, राज्य देने
वचन दे चुका हूँ, अतः तुम्हारा यह कहना-सुनना व्यर्थ है
वाक्य अपने निश्चय पर से नहीं टल सकता। क्यों किसी क
कहा है —

[illegible]

अब, यदि अपराध स्वीकार करने को कहो, तो मैं झूठ तो किसी समय और किसी भी अवस्था में नहीं बोल सकता। रही प्रजा की बात, सो यदि प्रजा में शक्ति होगी, तो वह विश्वामित्र को अपने अनुकूल बना लेगी। प्रजा से विरोध करके राजा एक पल भी नहीं ठहर सकता, न ऐसे राजा को प्रजा ठहरने ही दे सकती है। इसलिए इस विषय में भी कोई विचारणीय-बात नहीं है।

प्रधानजी! मैं, राज्य विश्वामित्र ऋषि को दे रहा हूँ, किसी दूसरे को तो राज्य माँगने की हिम्मत ही नहीं पड़ सकती। ये, अपना राज्य छोड़कर आये हैं, अतः राज्यकार्य से भिज्ञ हैं। यही कारण है, कि इन्होंने मुझ से राज्य माँगा है। राज्य देने में मेरी कोई हानि नहीं है, हानि तो इनकी है, जो ये राजर्षि-पद छोड़कर, फिर राज्य करना चाहते हैं। इस राज्य के देनेलेने में, बहुत बड़ा रहस्य है, जो अभी अप्रकट है। यदि ऐसा न होता, तो ये राजर्षि, जिन्होंने स्वयं अपने राज्य-पाट को छोड़ दिया है, फिर राज्य करने की इच्छा क्यों करते? ऐसे बड़े आदमी की राज्य करने की इच्छा हुई, तो समझना चाहिए कि इसमें कोई भेद है। प्रधान, अपनी राज्य देने में, किंचित भी हानि नहीं है, बल्कि लाभ ही है। लाभ क्या है, यह आगे चलकर प्रकट होगा। धर्म और सत्य पर विश्वास रखो, और इस श्रेष्ठ कार्य में विघ्न मत डालो।

राजा की बात सुनकर प्रधान तो बैठ गया, परन्तु विश्वामित्र विचारने लगे, कि इस राजा ने तो मुझे राजर्षि-पद से भी गिराने का विचार किया है। यह अपना राज्य देकर, मुझे त्यागी से भोगी बना रहा है। मैंने राज्य माँगकर अच्छा नहीं किया, और यदि अब नहीं लेता हूँ, तो राजा की पहिली बात सच होती है,

कि मैंने अप्सराओं को दया और राज-धर्म से छोड़ा। मुझे तो
इसका घमण्ड दूर करना है। इसके करने से मेरा राजर्षि पद
जाता है, तो चाहे जाय, परन्तु अपनी बात न जाने दूँगा और
न इसमें घमण्ड ही रहने दूँगा। यह, राज्य तो दे ही रहा है, मैं
इससे राज्य ले लूँ और फिर दूसरे दानादिक में फँसाऊँ, तब इसकी
बुद्धि ठिकाने आवेगी। फिर तो एक बार ही नहीं बल्कि दस बार
यह अपना अपराध स्वीकार करेगा। ऐसे, इसका घमंड न जाएगा।

विश्वामित्र, यहाँ आकर न्याय माँगने और फिर राज्य मांगने
आदि बातों पर मन ही मन पश्चात्ताप तो करते हैं, परन्तु अपना
दुराग्रह छोड़ने को तैयार नहीं हैं। ऐसा करने में, वे अपना
अपमान समझते हैं। इसी वास्ते, अपना राजर्षि पद खोकर भी
राजा से अपनी इच्छानुसार अपराध स्वीकार कराना चाहते हैं
वे, अपनी हानि करके, राजर्षि पद से भ्रष्ट होकर भी राजा को
नीचा दिखाने के इच्छुक हैं। किसी कवि ने सत्य ही कहा है:-

साईं सब अब हुए जन, इनको यही स्वभाव।
ब्याज बिचारैं आपनी, पर बंधन के दांव॥
पर बंधन के दांव खाल अपनी खिंचवावैं।
मूड़ काट के फवैं तऊ यह बाज न आवैं॥
कह गिरधर कविराय जरैं आपनी कटाई।
मन मे पाँव मारि गये, तऊ ढाई न खुटाई॥

आज भी बहुत से [illegible] दूसरों को फँसाने के लिये, उन्हें
सदा [illegible] अपना [illegible] जाते और [illegible]
[illegible] यह [illegible] का स्वाभाविक लक्षण है, कि [illegible]
[illegible] का कष्ट [illegible]। इसी के अनुसार [illegible]

हरिश्चन्द्र को अपमानित करने के लिये विश्वामित्र, अपने शान्ति-पद को भी छोड़ देने को तैयार हुए हैं। इस प्रकार, उन्हें शान्ति-पद की उतनी अपेक्षा नहीं है, जितनी अपेक्षा राजा को कष्ट में डालने की है। विश्वामित्र ने, हरिश्चन्द्र से कहा—देख राजा, अपनी बात विचार ले। पीछे से पश्चात्ताप करने से कोई लाभ न होगा। अविवेक-पूर्वक, शीघ्रता से आवेश में जो कार्य किया जाता है, उसका दुःख जीवन भर नहीं भूलता। इसीलिये किसी कवि ने कहा है:—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ।
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥

अर्थात्—कोई काम, चाहे हो अच्छा या बुरा क्यों न हो, काम करने वाले बुद्धिमान को, पहले उसके परिणाम का विचार करके काम में हाथ लगाना चाहिए। क्योंकि, बिना विचारे अति-शीघ्रता से किये हुए काम का फल, मरणकाल तक हृदय को जलाता और काँटे की तरह खटकता रहता है।

[illegible] पूरा काम करके हुआ [illegible]

[illegible]

ओं, अपने धन को न दान में लगाता है, न भोग में, उसके धन की तीसरी गति नाश अवश्य होती है।

महाराज, यदि यह राज्य किसी सुकृत्य में लग जाय, तो प्रसन्नता की बात है, इसमें पश्चात्ताप की कौनसी बात है? आप को प्रसन्न मन से संकल्प कर पृथ्वी और राज-पाट देना दान कीजिये।

विश्वामित्र ने जब देखा, कि यह अपने निश्चय पर दृढ़ है, तब क्रोधित होकर बोले—देखता हूँ, तू कैसा दानी है अच्छा ला।

हरिश्चन्द्र ने, पृथ्वी का पिण्ड, विश्वामित्र के हाथ में देते हुए कहा—'इदं न मम'। अर्थात् अब यह पृथ्वी मेरी नहीं है, मैं, अपनी सत्ता हटाकर विश्वामित्र-ऋषि की सत्ता स्थापित करता हूँ। विश्वामित्र ने, राजा से पृथ्वी का पिण्ड पाकर आशीर्वाद दिया—स्वस्ति मत। अर्थात् तेरा कल्याण हो।

पृथ्वी का पिण्ड लेकर, विश्वामित्र ने, विचार किया कि इस राज्य में तो इसका कुछ रहा नहीं है, इसलिये इसे फि- [illegible]

कई दाँव हारे हुए जुआरी को, एक दाँव जीत जाने पर जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र की यह बात सुनकर हुई। वे, मन ही मन कहने लगे, कि अब यह अच्छा फँसा है। अब इसकी बुद्धि ठिकाने लाये देता हूँ। वे, जिस क्रोध को, कारण न मिलने से अच्छी-तरह प्रकट न कर सके थे, उस क्रोध को प्रकट करने के लिये उन्हें अब कारण मिल गया। वे, क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे—तूने मुझे राज्य-पाट दान में दिया है, या मेरा उपहास कर रहा है?

हरिश्चन्द्र—क्यों महाराज?

विश्वामित्र—जब तूने राज्य-पाट मुझे दान में दे दिया, तो फिर कोष पर तेरा क्या अधिकार रहा, जो तू उसमें से दक्षिणा देने के लिये स्वर्ण मुद्रा मँगा रहा है? राज्य या उसके वैभव पर अब तेरा क्या अधिकार है? तू, केवल अपने शरीर और स्त्री-पुत्र का स्वामी है। तुझ पर, या तेरे स्त्री पुत्र पर कोई आभूषण है, तो वह भी मेरा है, ऐसी अवस्था में क्या मेरा ही धन मुझे दक्षिणा में देता है? मैं, इसीलिये कहता था, कि तू सूर्यवंश में उत्पन्न तो हुआ, परन्तु तुझमें अज्ञान है। पहले तो तूने अप्सराओं को छोड़ने और फिर हठ करके अपना अपराध न मानने की अज्ञानता की, फिर अपनी दानवीरता दिखाने के लिये राज्य देने की अज्ञानता की और अब दिये हुए दान में से ही लेकर दक्षिणा देने की अज्ञानता करना चाहता है। मुझे तेरी इस अज्ञानता पर दया आती है, इसलिये मैं तुझसे फिर भी कहता हूँ कि अपना अपराध स्वीकार कर, अन्यथा तुझे बड़े-बड़े कष्टों का सामना करना होगा।

विश्वामित्र की यह बात सुनकर, हरिश्चन्द्र पश्चाताप करने लगे, कि वास्तव में अब कोष पर मेरा क्या अधिकार है, जो मैं उसमें से स्वर्ण-मुद्रा दे सकूँ? उन्होंने विश्वामित्र से कहा—महाराज यह भूल तो मुझसे अवश्य हुई, मैं इसके लिये क्षमा-प्रार्थी हूँ! अब रही दक्षिणा की बात, सो मैंने एक हजार स्वर्ण-मुद्रा देकर देने के लिये कहा है, इन स्वर्ण-मुद्राओं का मुझ पर आप ऋण है। मैं, किसी दूसरे उपाय से आपका यह ऋण चुका दूंगा।

हरिश्चन्द्र को, इस प्रकार नम्र देख, विश्वामित्र को यह आशा हुई, कि संभवतः अब समझाने-बुझाने पर अपना अपराध स्वीकार करले। यदि यह अपराध स्वीकार करले, तो मैं राज्य के झंझट से भी बच जाऊँ, और मेरा राजर्षि-पद भी बना रहे। उन्होंने हरिश्चन्द्र से कहा—राजा! इस बात का तो विचार कर, कि इतनी स्वर्ण-मुद्रा तुझे प्राप्त कहाँ से होंगी? क्या इनके लिये भीख माँगेगा? यदि भीख भी माँगना चाहेगा, तो कहाँ माँगेगा? मैं तुझे अपने राज्य में रहने भी न दूँगा!

हरिश्चन्द्र—महाराज! इक्ष्वाकुवंशी देना जानते हैं, मांगना नहीं जानते।

विश्वामित्र—फिर क्या करेगा जो मुझे मिलेगी?

हरिश्चन्द्र—यदि आप इसी समय मुझसे चाहते हों, तो इस समय तो मेरे पास सिवाय मेरे शरीर के और कुछ नहीं है। यदि आप इस शरीर से किसी प्रकार अपना यह ऋण वसूल करना चाहें तो मैं इसके लिए मरने तैयार हूँ। अन्यथा, मेरे पूर्व [illegible] है।

वृद्धावस्था में राज्य-त्याग के पश्चात् यहाँ स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करसकें। यदि, आपने पूर्वजों की इस नीति का उल्लंघन न किया और काशी-क्षेत्र को पूर्ववत् राज्य से पृथक् ही रखा, तो मैं यहाँ कोई उद्योग करके, आपको एक मास में एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा चुका दूँगा। मैंने एक सहस्र स्वर्णमुद्रा देने का वचन दिया है, इसलिये इसे चुकाने के लिये मुझे अवकाश मिलना उचित है। आप राजनीतिज्ञ हैं, अतः मेरा विश्वास है, कि आप मुझे इसके लिये अवकाश देंगे, साथ ही, काशीक्षेत्र को राज्य से पृथक् रखने की पूर्वजों की नीति का पालन अवश्यमेव करेंगे।

विश्वामित्र विचारते हैं, कि यदि मैं काशी क्षेत्र पर अपना अधिकार करता हूँ, तो यह कार्य राज-धर्म से विरुद्ध होगा। इसके सिवाय, यदि राजा को एक सहस्र स्वर्णमुद्रा देने के लिए अवकाश नहीं देता हूँ, तो नीति भी भङ्ग करता हूँ और संसार में अपयश भी होता है। यह सोचकर, वे राजा से फिर कहने लगे—

राजा, अब भी समझ जा। एक सहस्र स्वर्णमुद्रा, तेरे लिये काशी में कहीं गड़ी नहीं हैं [illegible] निकालकर ला देगा। उद्योग से, एक मास में, एक-सहस्र स्वर्णमुद्रा [illegible] कर लेना कठिन कार्य है। इसलिये [illegible] अपना अपराध मानले, [illegible] पर [illegible] में [illegible] तुझे [illegible]

हरिश्चन्द्र—महा[illegible] है [illegible] तो [illegible] है [illegible] से, मैं [illegible] और [illegible] अपराध

अतः यह बात उन्हें और भी असह्य हो उठी। वे, [illegible]
लगे, कि ये अभी तो भिखारी थे, अभी ही राज्य मिला है,
देनेवाला भी अभी यहीं मौजूद है, इतनी ही देर में इतना घ[illegible]
छाया है, तो आगे क्या होगा? अपने दाता की उपस्थिति में भी
जब इन्हें कुछ कहते हुए लज्जा नहीं बोध होती, तो आगे न
जाने किसकी शंका होगी? यह विचारकर उन्होंने निर्भयतापूर्वक
विश्वामित्र को उत्तर दिया, कि आप पुराने नियमों की जगह नये
नियम किस पर प्रचलित करना चाहते हैं? आपके नियम मानेगा
कौन? आप शासन किस पर करेंगे? यह सभा और यह प्रजा
तभी तक है, जबतक महाराजा हरिश्चन्द्र यहाँ पर हैं। इनके यहाँ
से जाते ही, न सभा रहेगी, न प्रजा ही। हमलोग, देश-विदेश
जाकर कष्ट चाहे सहें; परन्तु आप ऐसे अन्यायी के राज्य में
कदापि न रहेंगे। जिसने, अपने राज्य देनेवाले दाता के साथ इस
कठोरता का व्यवहार किया है, वह हमारे साथ क्या
अच्छा व्यवहार करेगा? हमलोग, उन्हीं महाराजा हरिश्चन्द्र की
प्रजा हैं, जिन्होंने अपना राज्य देने में भी सङ्कोच न किया, तो
हमें घर बार आदि छोड़ने में क्यों सङ्कोच होगा? यदि, आप
हमलोगों पर राज्य करना चाहते हैं, तो महाराजा हरिश्चन्द्र के
बनाये हुए नियमों को इसी प्रकार रहिये, और महाराजा
हरिश्चन्द्र को यहाँ से चले जाने दो। आपने जो आज्ञा
दी है [illegible] वह [illegible] है, कि महाराजा
हरिश्चन्द्र के बनाये हुए नियम [illegible], तो
[illegible] बदल [illegible],
[illegible] नहीं कर सकते। [illegible]

महाराजा हरिश्चन्द्र चले, वैसे ही हम लोग भी उन्हीं के साथ चले जावेंगे। वे, राज्य के भूखे नहीं हैं। आप, प्रसन्नता पूर्वक राज्य कीजिये, परन्तु उन्हें यहाँ से चले जाने की आज्ञा न दीजिये। रही आपकी दक्षिणा की बात, सो एक हजार स्वर्ण-मुद्रा हम अपने पास से आपको दिये देते हैं। राज्य की सम्पत्ति तो हमारी सम्पत्ति हो सकती है और है भी, परन्तु हमारी संपत्ति पर राज्य का कोई अधिकार नहीं है। इसलिये, आप एक हजार स्वर्णमुद्रा हमसे लेकर, महाराजा हरिश्चन्द्र को ऋणमुक्त कीजिये। और उन्हें यहीं रहने की आज्ञा दीजिये। उनके चलाये हुए नियमों में जो हानिकारी हों, उन्हें मिटाने के सिवाय और किसी प्रकार का परिवर्तन न करके, आप आनन्द-पूर्वक राज्य कीजिये। हमारे इस कथन के अनुसार कार्य करने पर तो हमलोग आपसे सहयोग कर सकते हैं, अन्यथा कदापि ऐसा न हो सकेगा।

आज के लोग, यदि उस समय सभासद होते, तो सम्भवतः विश्वामित्र की हां में हां मिलाने के सिवाय, उनके विरुद्ध बोलने की हिम्मत तक न करते। [illegible] उन्हें तो प्रजा की चिन्ता [illegible] न होता। [illegible] स्थान [illegible] करने में [illegible] [illegible] है कि [illegible]

विश्वामित्र ने, सभासदों की बातें सुन, अपनी क्रोध भरी आँखें दिखा कर उन्हें डराना चाहा, परन्तु वे सत्य की शक्ति से बलवान थे, इसलिये विश्वामित्र की आँखों से क्यों डरने लगे! विश्वामित्र, उन लोगों से कहने लगे—दुष्टो! तुम को पता नहीं है, कि मैं कौन हूँ? मेरे सामने तुम्हारी यह कहने की शक्ति! देखो, मैं तुमको इसका कैसा दण्ड देता हूँ, तभी तुम्हें मालूम होगा कि विश्वामित्र की अवज्ञा करने का क्या फल होता है। तुम लोगों का कहना मान कर, जब मैं हरिश्चन्द्र को यहीं रहने दूँगा, तब मेरा राज्य क्या होगा? इसके रहते हुए, मेरी स्वतंत्रता कैसे क़ायम रहेगी और मेरी आज्ञाओं का पूर्णतया पालन कैसे हो सकेगा? हरिश्चन्द्र को, मैं यहाँ कदापि नहीं रहने दे सकता, न उसके समय के नियमों को ही रहने दे सकता हूँ।

सभासद—जब हम कह रहे हैं, कि महाराजा हरिश्चन्द्र राज्य के भूखे नहीं हैं, वे राज्य न करेंगे, वे तो केवल शान्ति से बैठे रहेंगे, और उनके ओर की दक्षिणा भी हम देते हैं, फिर आप उन्हें क्यों नहीं रहने देते? इतना होते हुए भी आप उन्हें निकाल रहे हैं, तो इसका यही अर्थ है, कि आपको उन्हें कष्ट में डालना अभीष्ट है और उनकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर, आप प्रजा को त्रास देना चाहते हैं। लेकिन आप ध्यान रखिए, कि आपकी यह आशा, दुराशामात्र है।

इस प्रकार, सभासदों के मुँह में जो कुछ आया, वह कहते हुए, वे क्रुद्ध होकर अपने-अपने घर चल दिये। विश्वामित्र, उनके इस व्यवहार से विचारने लगे, कि मेरे सामने किसी की बोलने तक की हिम्मत न पड़ती थी, परन्तु आज मेरी शक्ति कहाँ लुप्त

हो गई, वे लोग, सत्य के पथ से भ्रष्ट हैं, इसीसे मैं इनका सुधार नहीं कर सकता।

विश्वामित्र का, सभासदों पर तो कुछ प्रभाव पड़ा नहीं, तब वे हरिश्चन्द्र से ही सोधित होकर कहने लगे—कुटिल ! तूने खूब जाल रचा है। राज्य देकर दानी भी बन गया, मुझे अपमानित भी किया और अब इस प्रकार दूसरों से विद्रोह करवाकर, पुनः राज्य लेना चाहता है ? यदि तुझे राज्य का इतना मोह था, तो तूने पहले दिया ही क्यों ? जो अब इस प्रकार मुझे इन सभासदों से अपमानित करवा रहा है।

हरिश्चन्द्र—महाराज, आप दूसरे पर का क्रोध भी मुझ पर ही उतारेंगे ? मैं तो आपके समीप ही बैठा हूँ, कहीं गया भी नहीं जो इन्हें सिखाऊँ, ऐसी अवस्था में मेरा क्या अपराध है? मैंने तो आप से पहले।ही प्रार्थना की थी, कि आप शान्ति से काम लीजिये, परन्तु मेरी इस प्रार्थना पर आप और भी क्रुद्ध हो गये। अब मुझे आज्ञा दीजिये, और सन्तोष रखिये, मैं यथा सम्भव प्रजा के विचारों को आपके अनुकूल बनाने का प्रयत्न करूँगा।

महाराजा हरिश्चन्द्र, महल की ओर विदा हुए। उधर विश्वामित्र मन ही मन विचारते हैं, कि क्या मैंने हरिश्चन्द्र को दण्ड दिया है ? नहीं-नहीं, हरिश्चन्द्र से स्वयं मैं ही दण्डित हुआ हूँ। मैंने, अपने ही मुँह हरिश्चन्द्र से दण्ड माँगा है। मैंने, अपनी स्वतन्त्रता, उसकी परतन्त्रता में [illegible] है मेरे, ईश्वर-भजन आदि कार्यों में राज्य की [illegible] हो गई है [illegible] अपने पैर में स्वय ही, [illegible] बड़ी कठिनता से तुझ [illegible] स्वतन्त्रता [illegible] उपभोग वह

करेगा, जैसे उसे अप्सराओं को बन्धनमुक्त करने का फल मि
हो, और उसकी परतन्त्रता मैं भोगूँगा, जैसे मुझे उसपर क्रुद्ध
क्रोध करने का दण्ड मिला हो। हरिश्चन्द्र! वास्तव में तू धन्य!
किन्तु मैं भी सहज ही में तुझे छुटकारा देकर अपना अपमान
होने दूँगा। जिस कार्य को प्रारम्भ किया है, उसका अन्त
बिना पीछे न हटूँगा।

मिलन

विश्वामित्र के समीप से, महाराजा हरिश्चन्द्र महल की ओर विदा हुए। मार्ग में, उनके मन में जो तर्क-वितर्क होते जाते हैं, उनका वर्णन करना कठिन कार्य है। वे विचारते हैं, कि आज मुझे उस रानी के समीप जाना है, जिसने मुझ से कहा था, कि बिना सोने की पूँछ वाला मृगशिशु लावे, मेरे महल में मत आना। मैं, उसकी इच्छानुसार अब तक सोने की पूँछवाला मृगशिशु न ला सका और आज बिना मृग-शिशु लाये ही उसके समीप जा रहा हूँ, तो क्या वह मेरा तिरस्कार करेगी? लेकिन ऐसा होना तो सम्भव नहीं। रानी, ऐसी निन्दा-हठ करने वाली तो नहीं है, न उसे मेरा अपमान करना ही अभीष्ट है। यदि ऐसा होता, तो इतने समय में उसका [illegible]

पूँछवाला मृगशिशु ले कर ही आरहा हूँ। राज्य देना, कोई सरल कार्य नहीं है, लेकिन मैंने तेरी सहायता से इसे सम्भव कर बताया है। क्या तू मेरे इस कार्य को, सोने की पूँछवाला मृगशिशु मान कर सन्तोष करेगी? मान या न मान, सत्कार कर या तिरस्कार अब तो मैं तेरे समीप आता ही हूँ। लेकिन, क्या तू मेरे इस कार्य से सहमत होगी? तू यह तो न कहेगी, कि आधे राज्य की स्वामिनी मैं थी, आपने मेरे अधिकार का राज्य क्यों दे दिया? तू यह तो न कहेगी, कि रोहित जो राज्य का भावी स्वामी था, उसके अधिकार पर कुठाराघात क्यों किया? यदि, तूने मेरे इस कार्य का विरोध किया, तो सारी प्रजा तेरा साथ देकर विद्रोह कर देगी और इस प्रकार मेरा नाम कलङ्कित होगा, कि आसक्ति की राज्य के लिये भड़काया। रानी! अब तो तेरे पास आता ही हूँ अभी मालूम हो जायगा, कि मेरी ये आशङ्काएँ ठीक हैं या निर्मूल लेकिन, मैं तुझे रानी क्यों कह रहा हूँ? अब तो तू उस दरिद्र की स्त्री है, जिसके पास एक समय का भोजन भी नहीं है, न रहने को घर ही है। बल्कि, इस अवस्था में भी जो एक-सहस्र स्वर्ण का ऋणी है। तारा! आज तू मुझे क्या कहेगी? जो इच्छा सो कह, मुझे सुनना ही होगा।

इस प्रकार चिन्तासागर में डुबकियाँ लगाते हुए हरि[illegible] [illegible] [illegible] रानियों से मालूम [illegible] राजा सुखपा[illegible] [illegible] रोहित का [illegible] [illegible] कर रही थी [illegible] [illegible] रोहित से

क्या कहा ? आज का मिलन अन्तिम-मिलन क्यों है ? क्या दासी से रुष्ट हो, आपने किसी अन्य स्थान को जाने का विचार किया है. या और किसी कारण से आपको ऐसा करना पड़ा ? प्रभो ! शीघ्र कहिये, आपने यह किस अभिप्राय से कहा है ?

रानी की इस विनम्रता को देख, राजा आश्चर्य चकित गये। वे, विचारने लगे, कि क्षणभर पहले जो रानी निठुर बनी थी, वह इस प्रकार मेरा दुःख जानने के लिये क्यों व्याकुल उठी ? मैं अबतक यह निश्चय नहीं कर पाया, कि रानी स्वच्छ हृदय है या कलुषित-हृदय, क्रूर है या सरल, अभिमानिनी है या विनम्र ! कहाँ तो वह, रूठी हुई की तरह जा रही थी और कहाँ लौटकर इस प्रकार नम्रता दिखा रही है ! मेरे प्रति इसको इतना प्रेम है, और वह भी सुख में नहीं, किन्तु यह जानकर, कि पति इस समय दुःखित हैं ! मैं समझता हूँ, कि मुझे तो दान का फल तत्क्षण ही मिला है। यदि, मैं दान करके न आता तो इस स्त्री-रत्न को, जिसे मैं पत्थर समझ रहा था, कैसे जानता, कि यह पत्थर नहीं, किन्तु रत्न है।

राजा को इस प्रकार विचारमग्न देख, रानी की व्याकुलता और भी बढ़ गई। वे कहने लगीं। नाथ ! आप चुप क्यों हैं ! मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं देते ? क्या यह दासी उस बात के सुनने के योग्य नहीं है ? यदि ऐसा है, तो कम से कम यही कह दीजिए, जिसमें हृदय को कुछ सन्तोष तो हो।

हरिश्चन्द्र - प्रिये ! ऐसी कौन सी बात हो सकती है, जो तुम्हें सुनाने के योग्य न हो ? यदि मैं तुम्हें ही न सुनाऊँगा, तो सुनाऊँगा किसे ? और तुम्हीं न सुनोगी, तो सुनेगा कौन ? लेकिन

हुए कहा—प्रभो ! आप मुझे पिता के घर क्यों भेजते हैं ? क्या
यहीं रहते हुए ऋणमुक्त होने का कोई उपाय नहीं कर सकते ?

हरि०—ना प्रिये, हम लोग यहाँ नहीं रह सकते । विश्वामित्र
की आज्ञा, आज ही राज्य से चलेजाने की है ।

तारा—स्वामी, तो आपने कहाँ जाने का विचार किया है ?

हरि० - सिवाय काशी के, और कोई स्थान ही ऐसा नहीं
है, जो राज्य से बाहर हो ।

तारा - फिर क्या मैं काशी नहीं चल सकती ?

हरि० - प्रवास और वन के दुःख तुम न सह सकोगी, इस
लिये तुम्हारा अपने पिता के घर जाना ही अच्छा है ।

तारा—जीवन सर्वस्व, आप विचारिये तो, कि आपके रा[illegible]
से बाहर चले जाने और मेरे इसी राज्य में पिता के घर रहने पर
विश्वामित्र की आज्ञा का पूरी तरह पालन कैसे होगा ? मैं आप[illegible]
अर्द्धांगिनी हूँ, मेरे यहीं रहने पर, आपका आधा ही अङ्ग रा[illegible]
से बाहर गया और आधा अङ्ग तो यहीं रहा । इसके सिवा
जिन कष्टों को आप सह सकेंगे, उन्हें मैं क्यों न सह सकूँगी ?
आधा अङ्ग कष्ट सहे और आधा अङ्ग सुख में रहे, यह कहाँ का
न्याय है ? नाथ ! मैं और सब कुछ सुन सकती हूँ, पर यह [illegible]
[illegible]

जिन कष्टों को नहीं सहा है, उन कष्टों को सहन करने में आप कब अभ्यस्त हैं, जो आप उन्हें सह लेंगे और मैं न सह सकूँगी! यदि आप उन्हें सहन करने में समर्थ होंगे, तो मैं क्यों असमर्थ रहूँगी ? रहा मेरे खाने-पीने का प्रश्न, किन्तु यह प्रश्न तो आपके लिये भी है। अतः जिस प्रकार आप भूखे रहेंगे, उसी प्रकार मैं भी रहूँगी। बल्कि आपके भोजन कर लेने पर भी, मैं बिना खाये रहकर आपकी सेवा कर सकती हूँ। इतना ही नहीं, वन-वन भटककर, बिना नींद लिये भी, आपकी सेवा कर सकती हूँ। प्रभो ! ऋण की चिन्ता आप ही को नहीं है, मुझे भी उसकी चिन्ता है। क्योंकि उस ऋण में, आधी रकम की ऋणी मैं हूँ। सुख के समय और लाभ में तो पत्नी पति के साथ रहे, और दुःख तथा हानि के समय पति से पृथक् रहे यह मनुष्योचित-कार्य नहीं है। किसी कविने कहा है:—

प्रारम्भे कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मंजरी।
पुञ्जे मञ्जुल गुञ्जितानि रचयस्तानातनोरुत्सवान् ॥
तस्मिन्नद्य रसाल शाखिनिदशा दैवात् कृशामंगति।
त्व चेन्मुंचसि चञ्चरीक विनय नीचस्त्वदन्योऽस्तिकः ॥

अर्थात - हे भौंरे ! बसन्त के आते ही जब आम में मंजरि खिल उठीं, तब तो तूने उसके चारों ओर मंजु-मंजु गुंजार करते हुए खूब मजा लिया। अब दैववशात आम के वृक्ष के फल जाने—पुष्प-विहीन हो जाने पर अगर तू उसमें प्रेम न रखेगा, तो तुझसे बढ़कर नीच कौन होगा ?

मेरी, यह अभिलाषा पूर्ण हुई। अब, मैं आपसे इस निठुर-व्यवहार के लिये क्षमा-याचना करती हूँ।

हरिश्चन्द्र—तारा! मैं आज तुमको समझ सका, कि तुम कौन हो, मेरे प्रति तुम्हारे हृदय में क्या भाव हैं, और मेरे लाभ के लिये तुम अपने स्वार्थ को किस प्रकार ठुकरा सकती हो। कोई दूसरी स्त्री, तुम्हारी समता करने के लिये, युवावस्था में पति सुख छोड़ने और इस प्रकार त्याग दिखाने में कदापि, समर्थ नहीं हो सकती। यद्यपि, मैंने अपना राज्य दान कर दिया है, तथापि उसके फल स्वरूप तुम मुझे प्राप्त हुई हो। तुम, मेरे लिये अमूल्य हो, मेरी दृष्टि में संसार की और कोई वस्तु, तुम्हारे मूल्य के बराबर नहीं है। सांसारिक लोगों की यह प्रथा है, कि विदेश-गमन के समय मूल्यवान-पदार्थों को साथ न ले जाकर, किसी स्थान पर सुरक्षित रख देते हैं। इसी के अनुसार, मैं भी तुम्हें तुम्हारे पिता के यहाँ सुरक्षित रखने में अपना लाभ देखता हूँ।

तारा—स्वामी, आप और सब कुछ कहिये, परन्तु मुझे आपकी सेवा से दूर रहने को कदापि न कहिये। सुख के समय स्त्री भले पति से दूर रहे, परन्तु दुःख के समय, जो स्त्री सुख के लिये पति का साथ छोड़ देती है, वह स्त्री नहीं, वरन स्त्री जाति का कलङ्क है [illegible] अपना पति [illegible] करके, फिर इस प्रकार [illegible] करता है [illegible] भी ऐसी [illegible] इच्छा हो, [illegible] कि [illegible] है

जो दुःख के समय पति से पृथक् सुख से रहने में प्रसन्न होती है, और एक तारा है, जिसने सुख के समय तो मुझे अपने से दूर रखा, परन्तु दुःख के समय यह मेरे से दूर नहीं रहना चाहती। किसी दूसरी स्त्री से, यदि ऐसे समय कहा जाता, कि तुम दुःख में साथ न रहो पर सुख में रहो, तो वह प्रसन्न होकर कहती, कि अच्छा हुआ, जो मुझे इस दुःख से छुटकारा मिला। परन्तु धन्य है तारा को जो मेरे इतना समझाने-बुझाने पर भी, इस आपत्तिकाल में मेरे साथ ही चलना चाहती है।

राजा ने जब देखा, कि तारा किसी प्रकार भी मेरा साथ न छोड़ेगी तब उनको और कुछ कहना अनावश्यक समझा। उन्होंने कहा—तारा, यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो देर न करो, शीघ्र तैयार होजाओ। लेकिन इस बात का ध्यान रखो, कि साथ में एक कौड़ी भी लेने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि वस्त्र भी इतने साधारण हों, कि जिनसे अति-साधारण हों ही नहीं। और वे भी इतने ही हों, जितने के बिना काम न चले। शरीर के ऊपर भी कोई मूल्यवान वस्त्राभूषण न रहे उसके बाद भी वैसे ही साधारण हों जैसे साधारण मैंने बतलाए हैं

प्रजा और विश्वामित्र

जो राजा, प्रजा का पुत्रवत् पालन करता है, उसके दुःख में दुःखी और उसके सुख में सुखी होता है, जिसके कार्य न्याय और धर्म के विरुद्ध नहीं होते, उस राजा को प्रजा भी अपने पितृवत् समझती है और ऐसे राजा के दुःख से, वह भी दुःखी, तथा सुख से सुखी होती है। आवश्यकता पड़ने पर, ऐसे राजा के लिये प्रजा, अपना तन, धन और प्राण तक समर्पण करने में सौभाग्य मानती है। सारांश यह, कि जिस राजा को प्रजा प्रिय है, उसकी प्रजा को वह भी प्रिय है। उसके विरुद्ध, जो राजा प्रजा को धन-शोषण द्वारा कष्ट में डालता है उसके सुख और अधिकारों की उपेक्षा करता है, केवल अपने [illegible] आनन्द मानता है, उसकी प्रजा [illegible] हृदय में राजा को [illegible] मनाया करती है [illegible] प्रजा को [illegible] या प्रतिकूल [illegible]

विश्वामित्र ने [illegible]

हो, सारे नगर में यह संवाद बिजली की तरह फैल गया, कि आज, राजा ने राज्य-वैभव सहित ससागर-पृथ्वी का दान विश्वामित्र को दे दिया और विश्वामित्र ने, उन्हें नगर छोड़ देने की आज्ञा दी है। महाराजा हरिश्चन्द्र, कुछ ही समय में इस नगर को इसी तरह सूना करके जाने वाले हैं, जैसे सूर्य पीछे को छोड़कर चढ़ जाता है। इस भीषण-संवाद ने सारे नगर-निवासियों में खलबली मचादी। प्रजा, हरिश्चन्द्र के विरह से होने वाले दुःख का अनुमान कर, और उनके न्याय-राज्य का स्मरण कर, वैसी ही अधीर हो उठी, जैसे जल से निकाल देने पर मछली। लोग, जहाँ-तहाँ झुण्ड के झुण्ड एकत्रित हो, इसी विषय की चर्चा करते हैं, कि राजा ने तो इस राज्य-पाल-जंजाल से अपने को स्वतन्त्र कर लिया. परन्तु हमारी क्या दशा होगी? उस विश्वामित्र को धिक्कार है, जिसे ऋषि होकर राज्य-सुख का लोभ हुआ! उस निर्दयी को, राजा से राज्य लेकर ऊपर एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋण लादते, लज्जा भी नहीं आई! जब ऋषि ऐसे हों, तब गृहस्थी ही अच्छे हैं जो छल द्वारा किसी की सम्पत्ति का हरण तो नहीं करते। इस पापी पर वज्र नहीं गिरता? ...

विश्वामित्र—तुमलोगों को बात का अच्छी-तरह पता है। हरिश्चन्द्र ने, मेरे आश्रम की बन्दिनी अप्सराओं को छोड़ दिया। मैं, उसके इस कार्य का उपालम्भ देने आया, और उससे केवल यही कहा, कि तू अपना अपराध स्वीकार कर। परन्तु वह तो ऐसा हठी निकला, कि अपराध स्वीकार करना तो दूर रहा, उल्टे कहनेलगा, कि मैंने उन्हें दया करके राज-धर्मानुसार छोड़ा है। मैंने कहा—राज-धर्म तो दान देना भी है, तू क्या राज्यदान कर सकता है? बस, इसी पर उसने अपना सारा राज्य दान कर दिया। अब तुम्हीं बताओ, कि जो राजा ऋषियों के आश्रम की बन्दिनियों को छोड़ दे, हठ में पड़कर अपना अपराध भी स्वीकार न करे, बल्कि बात ही बात में अपना राज्य दूसरे को सौंप दे, वह राज्य करने योग्य कैसे कहा जा सकता है?

नेता—उन्होंने आपको राज्य दिया है तो आप प्रसन्नता-पूर्वक राज्य कीजिये, हमें राज्य के विषय में कुछ भी नहीं कहना है। हमारी प्रार्थना तो यह है, कि आपने उनके ऊपर जो [illegible] लाद रखा है, वह हमसे ले लीजिये। बल्कि यदि अधिक लेने की इच्छा हो तो अधिक ले लीजिये, परन्तु उन्हें यह स्वतन्त्रता दे दीजिये, कि उनकी जहाँ इच्छा हो वहाँ रहें। उन्हें, यहाँ से [illegible]

[illegible] गया को दिया में [illegible]

[illegible] राज्य में [illegible] का [illegible]

[illegible] आवश्यकता [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

आश्चर्य की बात ही क्या है ? आपको और हमें, इसके लिये किंचित भी दुःख न मानना चाहिये।

डेपुटेशन के असफल होने से प्रजा को बहुत दुःख हुआ। वह उसी प्रकार सिर पर हाथ रख-रखकर दुःख करने लगी, जैसे मधु के नष्ट होजाने पर मधुमक्खी। विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र के स्वभावों एवं न्यायकारिता आदि का, तुलनात्मक-विचार प्रजा के हृदय को विदीर्ण किये डालता था। उधर. स्त्रियों में भी घर-घर यही चर्चा हो रही है, और वे तारा के स्वभाव आदि का स्मरण कर, दुःख कर रही हैं। सब स्त्री-पुरुष, राजा के महल के सम्मुख आकर एकत्रित होगये और उनके महल से बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे।

नेता—जब उन्हें राज्य का लोभ होगा, तब वे प्रसं अपने अपराध को स्वीकार कर लेंगे। यदि अपराध स्वीका करेंगे, तो राज्य न पावेंगे। इन्हें, ऋणमुक्त करके, यहाँ रहने की बात से और अपराध स्वीकार करने से तो कोई सम्बन्ध है। फिर ऐसा करने में आपको क्या आपत्ति है?

विश्वामित्र इसका क्या उत्तर देते? अतः उन्हें अन्याय ही आश्रय लेना पड़ा और डेपुटेशन की बात को सत्य जान भी, उन्हें यही कहना पड़ा कि तुम लोग भी दुराग्रही हो, यहाँ से निकल जाओ।

विश्वामित्र ने, उसी समय सेवकों को आज्ञा दी, जिन्होंने सभ्य-गृहस्थों को निकाल दिया। जाते समय, इन लोगों ने वि मित्र के प्रति घृणा प्रकट करते हुए कहा—दुराग्रही हम बल्कि आप हैं, जो अपने राज्य-दाता को, इस प्रकार कष्ट डालने का प्रयत्न करते हैं और उसे झूठ-अपराध स्वीकार कर लिये विवश करते हैं।

डेपुटेशन की सफलता की आशा में, नगर के शेष राज-सभा के समीप ही खड़े थे। डेपुटेशन के बाहर निकलते सब लोग उसके पास [illegible] परन्तु उसका उत्तर सुनकर, की आशा, निराशा में परिणत [illegible] प्रजा कहने लगी, आप लोगों को [illegible] और सफलता भी न मिली

नेता ने कहा—[illegible] अपने अधिकार की बात [illegible] अपने [illegible] यहाँ [illegible] [illegible] [illegible]

आश्चर्य की बात हो गया है ? आपको और हमें, इसके लिये किंचित भी दुःख न मानना चाहिये।

हरिश्चन्द्र के अयोध्या से जाने से प्रजा को बहुत दुःख हुआ। वह उसी प्रकार सिर पर हाथ रख-रखकर दुःख करने लगी, जैसे मधु के नष्ट होजाने पर मधुमक्खी। विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र के स्वभावों एवं न्यायकारिता आदि का, तुलनात्मक-विचार प्रजा के हृदय को विदीर्ण किये डालता था। उधर, स्त्रियों में भी घर-घर यही चर्चा हो रही है, और वे तारा के स्वभाव आदि का स्मरण कर, दुःख कर रही हैं। सब स्त्री-पुरुष, राजा के महल के सम्मुख आकर एकत्रित होगये और उनके महल से बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे।

१४

दीन-वेश में नृप-परिवार।

यह संसार, एक चक्र के समान परिवर्तनशील है। जो आज
बालक हैं, वे ही कल बूढ़े दीख पड़ेंगे। जो आज बूढ़े हैं,
बालक के रूप में होजायँगे। जो आज सुखी है, वही
हो सकता है, और जो दुःखी है, वह सुखी हो सकता है

जो, कुछ समय पहले एक विशाल-राज्य के स्वामी
कारादि से जिनका शरीर सजा रहता था, वे ही महारा
श्चन्द्र और उसी राज्य की साम्राज्ञी महारानी-तारा, इस
से भी दीन हैं। तथा वे विश्वामित्र, जो थोड़ी ही देर
वासी थे, भिक्षा ही जिनका आधार था, इस समय ए
राज्य के सम्राट हो गये हैं। संसार की, यह परिवर्तन
हुए भी जो अपने सुख-वैभव का घमण्ड करते हैं, या
दुःख से कातर होते हैं, उन्हें अज्ञानी के सिवा और
कहा जा सकता। इसलिये ज्ञानी लोग कहते हैं, कि
में हर्षित होओ और न दुःख में घबराओ।

हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित अपने राजसी वेश
वेश में परिणत कर, महल से बाहर निकले। हरिश्च

वही महारानी-तारा है जो महलों में उसी प्रकार शोभा देती थी, जैसे आकाश में चन्द्रमा, या कोई दूसरी है ? क्या यह वही बालक है, जिसके लिये संसार के बहुमूल्य-पदार्थ तुच्छ माने जाते थे, जो अवध का भावी-शासक कहलाता था और प्रजा, जिससे भविष्य की अनेकानेक आशाएँ करती थी, या कोई दूसरा है ? वही राजा, वही रानी और वही बालक, आज इस वेश में हैं, फिर भी इनके चेहरे पर विषाद का चिन्ह मात्र नहीं है ! राजा ने तो सर्वस्व दान कर दिया, इसलिये उसका ऐसा करना तो कोई विशेष नहीं है, परन्तु रानी तो उससे भी बढ़कर निकली। स्वभावतः आभूषण-प्रिय स्त्रियों में से एक यह है, जिसने सब आभूषणों को त्याग दिया। इस वेश में, इसके ललाट की सुहाग-सूचक चिन्ह की बिन्दी कैसी शोभा दे रही है, जैसे किसी स्वर्णाभूषण पर रत्न जड़ा हुआ हो। मैं विचारता था, कि रानी स्त्री-स्वभावानुसार सुख-त्याग के दुःख से भयभीत हो, पति के इस कार्य का विरोध करेगी परन्तु धन्य है इसे जो इस दशा में भी पति का सहयोग [illegible]

[illegible] विश्वामित्र का प्रणाम [illegible] मैं आप [illegible] हुआ है अपना [illegible] बालक तथा रानी [illegible] इसी प्रकार प्रेमपूर्व [illegible] करता है

[illegible] लिया, [illegible] विमान में, [illegible]

राजा खड़े थे, उनके चारों ओर पुरुष, और जिस पर रानी खड़ी थी, उसके चारों ओर स्त्रियाँ खड़ी होकर उनके मुँह की तरफ देखने लगीं।

प्रजा को उपदेश

→⊛←

लोगों पर, उपदेश का प्रभाव, या तो भय से पड़ता है, या प्रेम से। भय-प्रदर्शन द्वारा जो उपदेश मनवाया जाता है, वह उपदेश तभी तक अपना प्रभाव रख सकता है, जबतक कि भय है। भय के नष्ट होने के साथ ही, उपदेश का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है। लेकिन, जिस उपदेश का प्रभाव प्रेम से होता है, वह किसी समय भी नष्ट नहीं होता, वरन उत्तरोत्तर वृद्धि करता जाता है। उदाहरणार्थ एक वह राजा उपदेश दे, जो किसी शक्ति विशेष से सम्पन्न है, और एक वह त्यागी दे, जिसमें राजा के समान कोई शक्ति नहीं है। इन दोनों में से, राजा का उपदेश तभी तक माना जावेगा, जबतक उसमें वह शक्ति है। उस शक्ति के न रहने पर वह उपदेश भी न रहेगा। लेकिन त्यागी यदि स्वयं भी न रहे तो भी उसका उपदेश नष्ट न होगा। तात्पर्य यह, कि [illegible] के [illegible] प्रचारक किया हुआ उपदेश [illegible] है [illegible] आवश्यक है, कि उपदेश [illegible]। वह, [illegible] दिग्दर्शन केवल इस

त्रिपथगे! मेरा राज्य, मेरा देश, मेरी प्रजा और मेरी रा[illegible]
धानी, मैं और किसी समय इस आनन्द से नहीं छोड़ सक[illegible]
था, जिस आनन्द से आज छोड़ रहा हूँ। और समय में, य[illegible]
कोई मुझसे छुड़ाना भी चाहता, तो मैं उस छुड़ानेवाले का प्रति[illegible]
कार करता, उससे युद्ध करता और उस युद्ध में मैं स्वयं ही अप[illegible]
लोगों से सहायता लेता। परन्तु मैं, सत्यपालन के लिये इन स[illegible]
चीजों को, जिन्हें मैं अन्त समय तक किसी दूसरे को न दे[illegible]
देता, आज प्रसन्नतापूर्वक छोड़ रहा हूँ। कर्त्तव्य और सत्य [illegible]
आगे, राज्य-वैभव-सुख तृण के समान है और वन-वन के भ[illegible]
कष्ट, राज्य-सुख की अपेक्षा अत्यधिक सुख-दाता हैं। जिस स[illegible]
और कर्त्तव्य के लिये, मैं इन सब को छोड़ रहा हूँ, उस स[illegible]
और कर्त्तव्य का, आप लोग भी पालन करें। इस समय आप [illegible]
जान जायेंगे, कि सत्य और कर्त्तव्य के आगे राज्य-वैभव कि[illegible]
तुच्छ है।

अब मैं आप लोगों से यही कहता हूँ, कि आप लोग स[illegible]
पालन में मेरा सहायता कीजिए बाधा न पहुँचाइए। [illegible]

[illegible]

यहीं रह जाऊँ, यह कैसे उचित है? सुख के समय, पति के साथ रहकर, दुःख के समय उनका साथ छोड़ देना, क्या पतिव्रत के लिये उचित है? बहिनो! आप लोग तो अपने धर्म पर स्थिर रहे, अर्थात अपने पति की सेवा करें, और मुझे पति सेवा-त्याग का उपदेश दें, यह आप लोगों को शोभा नहीं देता। आप लोग मेरे लिए जो प्रेम दर्शा रही हैं, यह पतिसेवा का ही प्रताप है। यदि मैं पति सेवा से विमुख होकर, आपके पास आती, और कहती कि आप मुझे स्थान दें, तो सम्भवतः हाँ नहीं, बल्कि निश्चित ही, आप लोग मेरा तिरस्कार करके, मुझे पतित से पतित समझतीं और मुझे घृणा की दृष्टि से देखतीं। लेकिन, पतिसेवा के लिए मैं सब सुखों को छोड़कर उनके साथ जा रही हूँ, इसीसे आप लोग मुझसे इस प्रकार रहने के लिये, आग्रह कर रही हैं। जिस पति सेवा का यह प्रताप है, उसे मैं कदापि नहीं छोड़ सकती और आपसे भी यही प्रार्थना करती हूँ, कि आप लोग यह अनुचित आग्रह न करें। स्त्री का धर्म केवल पतिसेवा है। वस्त्राभूषणादि पतिसेवा के सम्मुख तुच्छ हैं।

बहिनो! इस समय ... छोड़ कर रहे हो, मैं ...

[illegible]

बालक को लिये हुए दोनों पथिक, जैसे-तैसे एक वृक्ष के समीप पहुँचे। दिनभर से भूखे तो थे ही, इस समय भी पास कुछ न था, जो खाते। इसलिये, चुपचाप उसी वृक्ष के नीचे सो रहे। हिंसक पशुओं से रक्षा के लिये, कुछ देर राजा जागते रहे और कुछ देर रानी। इस प्रकार, अनेकों सेवकों से सुरक्षित महलों के रहनेवाले, कोमल-शय्या पर सोनेवाले राजा, रानी और रोहित ने, वन के मध्य, एक वृक्ष के नीचे भूमि पर कुछ देर सोकर और कुछ देर जागकर रात बिताई।

अरुणोदय के समय राजा-रानी उठ बैठे। परिश्रम के कारण एक तो वैसे ही दोनों के मुख,लाल होरहे थे, ऊपर अरुणोदय की लाली, उनके चेहरे पर पड़कर, उन्हें ऐसे लाल बना रही थी, जैसे दो पूर्णिमा के चन्द्रमा उदय हुए हों।

राजा और रानी, परमात्मा का स्मरण करके, उसे धन्यवाद देने लगे, कि तेरी ही कृपा से हम कर्त्तव्य तथा सत्य के पालन एवं कष्ट सहन करने में समर्थ हुए हैं। जहाँ अन्यलोग दुःख के समय परमात्मा को कोसने लगते हैं, वहाँ हरिश्चन्द्र और तारा धन्यवाद दे रहे हैं। वे लोग, अपने आपको कष्ट में नहीं समझ रहे हैं, किन्तु यह समझ रहे हैं कि हम सत्य की परीक्षा दे रहे हैं।

परमात्मा के स्मरण से निवृत्त हो, राजा और रानी रोहित को लेकर फिर मार्ग तय करने लगे। बारह पहर से अधिक समय व्यतीत होचुका है, तब से ये लोग भूखे ही हैं। कुछ देर चलने पर बालक के स्वभावानुसार रोहित को भूख लगी। भूख तो इन लोगों को भी लगी थी, परन्तु वह भूख रोहित के लिये सह्य थी और प्राण की तरह असह्य है। वह तारा से खाने के लि

पीड़ित-बालक का दुःख भी निवारण नहीं कर सकता। इन लोगों को, इस प्रकार कष्ट में डालने का कारण में ही हूँ, परन्तु इस समय मैं क्या कर सकता हूँ ?

राजा, एक तो दो-रोज से भूखे थे, दूसरे चलने से भी अत्यधिक थक गये थे, तीसरे गर्मी के मारे प्यास से कण्ठ सूख जा रहा था। ऊपर से, बालक की क्षुधा का दुःख, उन्हें और भी अधीर किये देता था। वे, चलते-चलते, एक वृक्ष के नीचे, मूर्छित होकर गिर पड़े। तारा, पति की यह दशा देख, घबरा गई। उधर रोहित भी अपनी भूख भूल, तारा से पूछने लगा, कि पिताजी क्यों गिर गये ? तारा ने, रोहित को राजा के पास बैठा दिया और उसके हाथ में पत्ते देकर कहा—बेटा,तुम अपने पिता पर पवन करो। रोहित, अपने छोटे-छोटे हाथों से पिता पर पवन करने लगा और रानी, राजा के लिये जल की चिन्ता करने लगी।

आवश्यकता, आविष्कार की जननी है। बिना आवश्यकता के,आविष्कार नहीं होता। घर बनाना, भोजन बनाना, कपड़ा बनाना आदि प्रत्येक आविष्कार, आवश्यकता के कारण ही हुए हैं। बिना आवश्यकता का अनुभव किये किसी आविष्कार की आवश्यकता नहीं प्रतीत होता। रानी यद्यपि राजमहल की रह [illegible] है और इस [illegible] किस प्रकार बनाया [illegible] की आवश्यक [illegible] किया [illegible] तक उस [illegible] तक सारा

दृष्टि पड़ा। वे वृक्ष से उतरकर, दौड़ती हुई उस सरोवर पर गईं और उसी में से एक कमल का पत्ता तोड़, उसका दोना बना, उसमें जल भरकर पति के पास लाईं।

रानी को, पैदल चलने का यह पहला ही अवसर है। वे, दो-दो दिन से भूखी हैं, पैरों में काँटों के लगने से असह्य-पीड़ा अनुभव कर रही हैं, परन्तु इन सब बातों की कुछ भी परवाह न कर, पति के लिये दौड़कर पानी ले आईं। यदि, आज की स्त्रियों की तरह तारा होतीं, तो सम्भवतः पहले तो इन सब दुःखों को सहन करने को तैयार ही न होतीं। कदाचित तैयार भी हो जातीं, तो वन के मध्य पति की इस दशा को देखकर, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जातीं। परन्तु, तारा ने, ऐसी अवस्था में भी धैर्य और दृढ़ता न छोड़ी।

रानी ने, जल लाकर पति के मुँह पर छिटका। शीतल-जल के छींटों से, राजा की मूर्छा दूर हुई और आँखें खुलीं। राजा की आँखें खुलते ही, रानी ने कहा—नाथ, जल पीजिये।

राजा ने जल पिया। तृषा दूर होने और शान्ति मिलने पर, राजा ने पूछा—प्रिये ! इस निर्जन-वन में, यह जल तुम कहाँ से लाई ? इस जल ने तो इस समय मेरे लिये अमृत का गुण किया है।

तारा—नाथ ! मैं इसे समीप ही के एक सरोवर से लाई हूँ।

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! मैं तुम्हें साथ नहीं लाता था, परन्तु अब मैं अनुभव करता हूँ, कि यदि तुम साथ न होतीं तो मेरी दुःख की नाव पार नहीं हो सकती थी। तुम, मेरे लिये आह्ला-दिनी-सहचारी सिद्ध हुई हो

का पालन न कर सकेगा। परन्तु राजा को सत्यपालन के लिये इस प्रकार कष्ट सहते देख, वह आश्चर्यचकित होगया। इस समय उसने विचारा, कि इन्हें राज्य छूटने आदि का कैसा दुःख है, इसकी परीक्षा मैं स्वयं लूँ। इस विचार से, वह एक वृद्धा का रूप धारण करके, सिरपर लड्डुओं का पिटारा रख, हरिश्चन्द्र और तारा के साथ होगया। वह, एक लड्डू हाथ में ले, रोहित को बता कर उसे ललचाता था और विचारता था, कि देखें रोहित जो भूख से विहल है, तथा राजा-रानी, जो अपने पुत्रकी भूख से दुःखित हैं, लड्डू माँगते हैं, या नहीं। रोहित, अपने साथ की वृद्धा को लड्डू बताते देख, अपनी माता की ओर देखने लगा। तारा ने रोहित से कहा—बेटा, ऐसे लड्डू तो तुम नित्य ही खाते थे और अब आगे चलकर और भी खाओगे।

माता-पिता के ही स्वभाव का संस्कार, बालकों में हुआ करता है। जिनके माता-पिता स्वयं माँगना नहीं जानते, वे बालक भी प्रायः वैसे ही हुआ करते हैं। ऐसे बालकों को, यदि कोई स्वयं भी कुछ देने लगता है, तो वे नहीं लेते, माँगना तो दूर रहा। रोहित बालक है, वह भी आज दो दिनों से भूखा है, परन्तु उसने उस वृद्धा से लड्डू नहीं माँगा, न माँ से ही कहा कि मुझे माँग दो।

वृद्धा अपने लड्डू वाले हाथ को रोहित के समीप इस तरह [illegible] है मानो उस लड्डू देरही हो। परन्तु जिस तरह [illegible] [illegible] की ओर नहीं देखता, उसी तरह रोहित ने भी, [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] उसकी ओर नहीं देखा न हरिश्चन्द्र [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भूखे-बालक को [illegible] [illegible]

गंगे, तू जिस प्रदेश में होकर निकली है, उन प्रदेशों को ए
भरा बनाकर, वहाँ के लोगों को सुख देती गई है। मैं भी अब
काशी आया हूँ, परन्तु यहाँ के लोगों को, मैं क्या शान्ति
कर सकूँगा, यह नहीं कह सकता।

उधर रानी कह रही है—गंगे ? तेरा नाम भी स्त्रीवाच
और मैं भी स्त्रियों में से हूँ। मैं, अब अपनी और तेरी तु
करती हूँ।

जिस प्रकार तू हिमालय से निकलकर समुद्र को जाती
उसी प्रकार हम स्त्रियें भी पीहर को छोड़कर, ससुराल जाती
जिस तरह तू अपने एक समुद्र को छोड़कर दूसरे में जाने
विचार नहीं करती, उसी तरह हम भी एक ससुराल छो
दूसरी में जाने का विचार नहीं करतीं। जैसे तू समुद्र में
मिल जाती है; दूसरी नहीं जान पड़ती, उसी तरह हम भी
राल में जाकर मिल जाती हैं, दूसरी नहीं जान पड़तीं।
तरह तू अपने उद्गम स्थान पर तो कलकल करती है,
समुद्र में पहुँच कर, शान्त और गम्भीर बन जाती है,
तरह हम भी पीहर में तो कलकल करती हैं, परन्तु ससुरा
शान्त और गम्भीर बन जाती हैं। जिस प्रकार तेरी एक
होने से तू पावन कहाती है, उसी प्रकार हम में भी जो एक
रखती हैं, वे पावन कहलाती हैं। जिस प्रकार तू निःस्वार्थ-भ
समुद्र में [illegible] है [illegible] प्रकार हम भी निःस्वार्थ-भाव से स
[illegible] है जैसे तू आत्मसात करती और [illegible]
[illegible] करती रहता है, उसी प्रकार ह
[illegible] रहता और

हरिश्चन्द्र—मैं, यहाँ से धर्मार्थ मिलनेवाला भोजन भी न कर सकता, न बिना किराया दिये रह ही सकता हूँ। मैं जिसतरह से अपना उदरपोषण करूँगा, उसी प्रकार से किराया भी दूँगा।

व्यवस्थापक—ऐसा क्यों ?

राजा—इसलिये, कि मैं दीन हूँ, परन्तु भिखारी नहीं।

व्यवस्थापक—क्या तुम्हारे स्त्री-पुत्र या केवल पुत्र भी भोजन न करेंगे ?

राजा—नहीं।

व्यवस्थापक—पुत्र तो अभी बालक है, उसे भोजन क देने में क्या हर्ज है ?

राजा—एक समय का भी, भिक्षा का भोजन, संस्कार अन्तर डाल सकता है।

राजा की बातें सुनकर, व्यवस्थापक बहुत ही प्रसन्न हुए वह मन ही मन कहने लगा, कि यद्यपि ये हैं तो दीन, परन्तु कोई नीतिज्ञ और भले आदमी। उसने, इन्हें अपनी धर्मशाला जाने देना उचित न समझा और एक छोटा-सा स्थान बतला उसका किराया भी कह दिया। स्त्री-पुत्र सहित राजा, उस में जा [illegible] राजा ने तारा से कहा—तुम जबतक [illegible] तबतक मैं नगर में उद्योग द्वारा [illegible]-सामग्री [illegible]

[illegible] मजदूर काम किया [illegible] सम्मिलित होम [illegible] मियाँ पर [illegible] निकाल रहे

रानी—मैं मजदूरनी हूँ। पीसना, कूटना, बरतन माँजना, कपड़े धोना आदि सब कार्य करना जानती हूँ और प्रत्येक कार्य अच्छा तथा बहुत शीघ्रता-पूर्वक कर सकती हूँ।

तारा की इस बात ने, उन स्त्रियों के हृदय में और भी करुणा उत्पन्न करदी। वे कहने लगीं, कि तुम मजदूरनी तो नहीं जान पड़तीं, हाँ, विपत्ति की मारी चाहे मजदूरी करने लगी होओ। हमें, तुमसे मजदूरी कराना उचित नहीं प्रतीत होता, अतः हम तुम्हें वैसे ही, जो चाहिये सो दिये देती हैं।

रानी—आपकी दृष्टि में, यदि मैं सम्मान के योग्य हूँ, तो आप लोग मुझे भीखमंगी न बनाइये, और कोई मजदूरी का काम देने की कृपा कीजिये। यदि कोई कार्य न हो, तो नाहीं कर दीजिये, जिसमें मुझे देर न हो। क्योंकि मैं स्वयं भी भूखी हूँ तथा बालक भी भूखा है। देर करने से, हमें भोजन बनाने में भी देर होगी, जिसका परिणाम यह होगा, कि हमें अधिक समय तक भूख सहनी पड़ेगी। मैं, बिना मजदूरी किये तो आप लोगों से कुछ नहीं ले सकती।

स्त्रियों ने जब समझ लिया, कि यह ऐसे न लेगी, तब उन्होंने तारा को कुछ काम दिये। तारा ने, उन कार्यों को इतना शीघ्र और इतना कुशलतापूर्वक किया, कि सब स्त्रियें तारा की कार्यकुशलता पर प्रसन्न हो गईं [illegible] सम्मान तारा को मजदूरी दी। मजदूरी पाकर तारा ने भोजन बनाने की सामग्री खरीदी और शीघ्रता से भोजन बनाकर [illegible] सदा के अनुसार रोहित से कहने लगी, कि तुम भी भोजन करो। परन्तु तारा ने समझाया कि तेरे पिता के आजाने पर मैं भी भोजन करूँगी

अन्यायवृत्ति से भोजन लाये हैं, न, मैं ही अन्यायवृत्ति से लाई हूँ। आपकी लाई हुई भोजन-सामग्री शेष रहेगी। गृहस्थी का कर्त्तव्य है, कि अल्प संचय करे। सो हमारे यहाँ भी, कम से कम एक-दो समय की भोजन-सामग्री, तो रहनी ही चाहिए। स्वामी, हमलोगों को अब किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। क्या आप और मैं दोनों मिलकर, अपना पेट भरने के लिये भी न कमा सकेंगे ?

रानी की बात सुनकर, राजाको सन्तोष हुआ। वे, आदर-पूर्वक कहने लगे—तारा तुमने तो गजब कर दिया। तुम-सी स्त्री पाकर मैं कृतार्थ हुआ।

वे राजा और रानी, जो कुछ ही दिन पहले, राज्य-वैभव में, अच्छे-अच्छे भोजनों में और महलों के निवास में सुखी थे, अब गरीबीपूर्ण-जीवन में, रूखे-सूखे भोजन में, और धर्मशाला की एक छोटीसी किराये की कोठरी में ही सुख मानते हैं। जिनके कार्यों में हजारों मजदूर लगे रहते थे, वे स्वयं आज मज-दूरी करते और ऐसा करते हुए भी अपने-आपको सुखी समझते हैं। कभी इस गरीबी को दूर करने के लिये, किसी अन्याय-कार्य करने की इच्छा स्वप्न में भी नहीं करते। इसीलिये नीति-कारों ने कहा है कि धीर-मनुष्य चाहे जैसी परिस्थिति में हो किन्तु वे कभी भी न्यायमार्ग नहीं छोड़ते। अस्तु।

[illegible] इसी प्रकार मजदूरी करके सुखपूर्वक दि-[illegible] अपने गृहकार्य से निवृत्ति पाकर, घर[illegible] और [illegible] सबेरे ही जाकर, म-[illegible] राजा और रानी की इस[illegible]

अन्तिम सम्पत्ति देने और तथा नागाओं उसकी सहायता करने। इस प्रकार, अब राजपूत उनके अनुगामी बन महाराजा-हरिश्चन्द्र का यश भी मजदूरों पर तक होता हो गया।

से ऋण भी दिया जायेगा। आप चिन्ता क्यों कर रहे हैं?

राजा—यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि उद्योग द्वारा हमारी जो आय है, वह इतनी नहीं है, कि उसमें जीवन-निर्वाह भी कर सकें और ऋणमुक्त भी हो सकें। फिर किस आधार पर चिन्ता न करूँ?

तारा—प्रभो, यदि हमारी नीयत साफ है, यदि हम अपने सत्य पर अटल हैं, यदि हमको ऋण चुकाने की सच्ची चिन्ता है, तो ऋण अवश्य ही चुक जायेगा, आप धैर्य रखें। ऋण तो उनका नहीं चुकता, जो ऋण चुकाने की ओर से उदासीन हैं। आप उसके लिये चिन्तित हैं, अतः आप तो अवश्य ही ऋण-मुक्त होंगे।

रानी की बात सुनकर राजा को धैर्य हुआ। कुछ दिन तो राजा-रानी इसी प्रकार अपने कार्य में लगे रहे, परन्तु अवधि के कुछ ही दिन शेष रहने पर, राजा को पुनः ऋण-चिन्ता ने घेर लिया। [illegible] कि कैसे भी हो ऋण-मुक्त होना [illegible] और अपना [illegible]

[illegible]

मजदूर वेश-धारी राजा से, बात-चीत करना धनान्ध-सेठ को कब उचित प्रतीत हो-सकता था ? उसने राजा की ओर देखकर, अपने कार्य कर्त्ताओं से कहा, कि इसे कोई मजदूरी का काम हो तो दे दो।

राजा–मैं, मजदूर तो हूँ ही, और मजदूरी मेरा धन्धा ही है, परन्तु इस समय मैं मजदूरी के लिये नहीं आया हूँ। मैं, आपसे एक ऐसी बात कहना चाहता हूँ, जिसमें आपका भी लाभ है और मेरा भी लाभ है।

सेठ ने, यह विचार कर, कि यह मजदूर मेरे लाभ की क्या बात बता सकता है और कौन इससे बात करने में अपना समय तथा अपनी प्रतिष्ठा का नाश करे, राजा को धुतकार दिया। राजा, वहाँ से निराश हो दूसरी दुकान पर गये परन्तु वहाँ भी यही दशा हुई। इसी प्रकार राजा कई दुकानों पर गये, परन्तु किसी ने भी उनकी बात न सुनी। जिस प्रकार, हीरे की परीक्षा न जानने के कारण [illegible] [illegible] [illegible] को महत्व देते हैं, [illegible] की भी कोई परीक्षा न कर सका [illegible] निराश होना पड़ा।

[illegible] भी राजा निराश [illegible] यह कहने पर, कि [illegible] राजा की बात सुनने [illegible] [illegible] सब का [illegible] की तरह दुका[illegible] [illegible] आप मेरी बा[illegible]

देकर, मुझे अपने यहाँ नौकर रख लीजिये, और जबतक मैं ऋण-मुक्त न होजाऊँ, आप मुझसे काम लीजिये। मेरा वेतन, ऋण में जमा करते रहिये, मैं आपने व्यय के लिये भी कुछ न लूँगा

सेठ—फिर खायगा क्या?

राजा—मेरी स्त्री मजदूरी करती है, उसी मजदूरी से मेरा भी निर्वाह हो जायगा।

सेठ—तुझ पर कितना ऋण है?

राजा—एक सहस्र मुहरें।

सेठ—एक सहस्र मुहरें! क्या जुआ खेला था?

राजा—नहीं।

सेठ—फिर इस दशा में तुझ पर इतना ऋण कैसे होगया? क्या किसी और व्यसन का तुझे अभ्यास है?

राजा—मैं, व्यसन के समीप भी नहीं जाता, मुझे एक ब्राह्मण को दक्षिणा देनी है, वही ऋण है।

सेठ—तेरा जितना वेतन नहीं होगा, उससे अधिक तो एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा का सूद हो जायगा। इस प्रकार तो हमारी मुद्राएँ तुमसे कभी पूरी हो नहीं हो सकती। इसके सिवाय तेरा विश्वास क्या? हजार मुहरें तुझे देदें और तू भाग जाय, तो हम कहाँ ढूँढते फिरें?

राजा—आप विश्वास रखिये मैं कदापि नहीं भाग सकता।

सेठ—केवल विश्वास करके सूद नहीं चलता है एक हजार [illegible] सम्बन्ध रख कर [illegible] नहीं रह सकता [illegible]

क्रय-विक्रय की प्रथा थी अवश्य, लेकिन दास-वाणिज्य के विषय में, लेखकों ने योरोप के दासों के साथ होनेवाले. जिन घृणित और अमानुषिक व्यवहारों का वर्णन किया है, उनके कलङ्क से भारत सदा बचा रहा है। भारत, सदा से सहृदय रहा है। उसने दासों पर वैसा अत्याचार कभी नहीं होने दिया, जैसा अत्याचार योरोप में दासों पर होता था। इतिहासकार कहते हैं, कि ... लैण्ड में तो उन्नीसवीं सदी तक यह प्रथा बराबर जारी थी और अब भी वहाँ के निवासी प्रतिज्ञाबद्ध-कुली के रूप में, इस प्रथा को बराबर मानते हैं। भारत में भी कहीं-कहीं दासत्व-प्रथा अभी शेष है, जैसे कि राजस्थान के राजाओं के दास कभी दासत्व से मुक्त नहीं होते। लेकिन दास-व्यवसाय नहीं होता और इस प्रथा का भी क्रमशः अन्त होता जा रहा है। अस्तु।

रानी ने विचारा, कि पति तो दुःखवश मुझे बेंच न इसलिये मैं स्वयं ही अपने आपको बेंचूँ। वे, बाजार में आवाज देकर कहने लगीं—भाइयो, मैं दासी हूँ, गृह के सब कार्य में कर सकती हूँ, अतः जिसको दासी की आवश्यकता हो, वह खरीद ले।

रानी के स्वरूप को देखकर लोग आश्चर्य करने लगे, कि यह दासी तो विचित्र-प्रकार की है। इस बाजार में, अबतक ऐसी सुन्दर और सुडौल शरीरवाली दासी कभी बिकने न आई, थी। इसकी सुकुमारता और इसके रूप-लावण्य से प्रकट है, कि यह कोई भद्र महिला है, परन्तु विपत्ति की मारी बिक रही है। इन लोगों में से, एक ने नारा से पूछा ही तो, कि तुम कौन हो, कहाँ रहती हो और क्यों बिकती हो?

तारा—मैं, पहले ही कह चुकी हूँ, कि मैं दासी हूँ। दासी का विशेष परिचय क्या ? हाँ, यदि आपलोग चाहें, तो मैं क्या-क्या काम कर सकती हूँ, यह अवश्य पूछ सकते हैं।

वह—तुम्हारा मूल्य क्या है ?

तारा—ये ऋषि (विश्वामित्र) जो खड़े हैं, इन्हीं की मैं और मेरे पति ऋणी हैं। इन्हें, एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देनी हैं। जो कोई इनकी एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देनी चुका दे, मैं उसी के साथ दासीपना करने के लिये चलने को तैयार हूँ।

तारा का मूल्य सुनकर, लोग भौचक्के से हो आपस में कहने लगे, कि एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ दे, ऐसी कोमलाङ्गी-दासी खरीद-कर क्या करेंगे ? जो स्वयं ही इतनी कोमल है, वह हमारा काम क्या करेगी ?

उन लोगों में से कोई विश्वामित्र से कहने लगा, कि तुम साधु हो, तुम्हें धन की ऐसी क्या आवश्यकता है, जो इसको बिकने के लिये विवश करते हो ? कोई राजा के लिये ही कहता है, कि यह कैसा पुरुष है, जो अपने सामने अपनी ही स्त्री को बिकती देखता है ? और कोई तारा के लिये ही कहने लगा, कि यह स्वयं ही नमालूम कैसी स्त्री होगी, तभी तो इसका पति अपनी उपस्थिति में इसे बिकने देता है। इस प्रकार तीनों के लिये कटु शब्द कह-कहकर सब लोग चले गये, किसी ने भी तारा को खरीदने का विचार न किया।

जिस स्थान पर तारा बिकने के लिये खड़ी थी, वहीं एक वृद्ध और अनुभवी-ब्राह्मण खड़ा हुआ सब बातें सुन रहा था। तारा की बातों और उसके लज्जादि-गुणों से उसने अनुमान

किया, कि यह कोई विपद्ग्रस्त विदुषी महिला है, जो अपने आपको बेंच रही है। इसके लक्षणों से प्रकट है, कि वान और सच्चरित्र है। वे लोग मूर्ख हैं, जो एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा को इसकी अपेक्षा अधिक समझते हैं।

इस प्रकार विचारकर, वृद्ध-ब्राह्मण तारा के पास जा, उससे कहने लगा—भद्रे! तुम्हारे लक्षणों से प्रकट है, कि तुम किसी बड़े घर की स्त्री हो और विपत्ति की मारी अपने आपको इनका ऋण चुका रही हो। लेकिन क्या इतना और बता सकती हो, कि यह ऋण किस बात का देना है?

तारा—दक्षिणा का ऋण है।

ब्राह्मण—आपका नाम, गोत्र आदि क्या है?

तारा—इसके लिये तो मैं कह ही चुकी हूँ, कि मैं दासी हूँ, दासी का नाम गोत्र आदि क्या पूछना?

ब्राह्मण—यद्यपि तुम्हारे सद्‌गुणों के कारण, तुम्हारे एक-एक नाखून के लिये, सहस्र-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देना अधिक नहीं है, लेकिन मैं आपकी कही हुई, एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देने में भी असमर्थ हूँ। मेरे पास, केवल पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ हैं। यदि आप अपने बदले पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ दिलाना स्वीकार करती हों, तो मैं देने को तैयार हूँ।

ब्राह्मण की बात सुनकर, तारा विचारने लगी, कि अब क्या करना चाहिए? देनी तो एक-सहस्र मुहरें हैं और ये ब्राह्मण पाँच-सौ ही देते हैं। प्रसन्नता की बात है, कि जहाँ किसी ने मुझे एक पैसे में भी नहीं खरीदना चाहा था, वहाँ इन्होने मेरी कीमत पाँचसौ मुहरें तो लगाईं। इन मुहरों से यद्यपि सब ऋण तो न

दूँगा, परन्तु विश्वामित्र की आधी दक्षिणा मिल जाने से, वे शान्त अवश्य हो जावेंगे। पाँचसौ मुहरें पाजाने पर, वे शेष मुहरों के लिये पति को कष्ट और अवसर दे देंगे, उस समय में पति इन की शेष मुहरें भी चुका देंगे और शायद ही दिन में मुझे भी छुड़ा लेंगे। इसका आत्म-समर्पण, इसी समय विपत्ति के मार्ग में किया है, जो सदा न किया रहेगा।

इस प्रकार विचारकर, तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा—स्वामी, ये ब्राह्मण पाँचसौ मुहरें देते हैं। ऋण चुकाने के लिये तो यद्यपि ये मुहरें पर्याप्त नहीं हैं, परन्तु आधा ऋण अवश्य चुक जायगा। अब, आप जैसी आज्ञा दें, वैसा करूँ।

विश्वामित्र ने, तारा की बात सुनकर विचारा, कि इसको बिकवाकर पांचसौ मुहरें ले लेना ही ठीक है। पांचसौ मुहरें जो शेष रहेंगी, उनका भी मैं राजा से अभी देने के लिये तक़ाज़ा करूँगा। राजा के पास अब तो स्त्री भी नहीं है, जो उसे बेचकर शेष ऋण दे देगा। इस प्रकार वह कष्ट से घबराकर अपना अपराध स्वीकार करलेगा, बस! बात खतम होजायगी। इसके सिवाय, यह रानी अबतक इसे धैर्य देती रही है। इसके बिकजाने पर, फिर कोई धैर्य देनेवाला भी न रहेगा। परिस्थिति के दुःख, स्त्री-वियोग के दुःख और मेरे ऋण के दुःख से कातर हो, यह अवश्य ही अपराध स्वीकार कर लेगा।

हरिश्चन्द्र तो दुःख के आवेश में तारा की बात का कुछ उत्तर देने न पाये, इसीबीच विश्वामित्र कहने लगे—उससे क्या पूछती हो? पाँचसौ मुहरें देना है तो पाचसौ दिलाओ, जिससे मुझे कुछ सन्तोष तो हो।

विश्वामित्र की इस बात ने, हरिश्चन्द्र के दुःखित-हृदय में तीर का काम किया। वे, मन ही मन कहने लगे—हाय! सिर पर ऋण होना भी कितने दुःख की बात है। यदि, आज मैं ऋणी न होता, तो तारा के इस प्रकार बिकने और विश्वामित्र के कटु ऐसे वचन सहने की क्या आवश्यकता होती? संसार के वे लोग नितान्त अभागे हैं, जिनपर दूसरे का ऋण है। और वे लोग बड़े भाग्यशाली हैं, जिनपर किसी का ऋण नहीं है। इतने अनुभव के बाद आज मैं कहता हूँ, कि ऋण के समान दूसरा कोई दुःख नहीं है। लेकिन ऋण उन्हीं के लिये दुःखदाता है, जो उसे चुकाना चाहते हैं और अपना सत्य पालन करना चाहते हैं। जो दूसरे का ऋण डुबाने वाला है, उसके लिये तो ऋण का होना और न होना दोनों समान हैं।

विश्वामित्र की बात सुन, तारा अपने पति से कहने लगी—नाथ, ऋषि को इतनी मुहरें मिलजाने से कुछ सन्तोष होजायगा, इसलिए आप मुझे बिकने की आज्ञा दीजिये।

कुछ ही दिन पूर्व, जो दूसरों को दासत्व से मुक्त कराते थे, जो मानव-विक्रेताओं को दंड देने का प्रबंध करते थे, जो सदा दूसरे की परतन्त्रता का हरण करते थे, अपनी ही स्त्री को बिकते देख, उन्हीं दानवीर महात्मा-हरिश्चन्द्र के हृदय की जो दशा हुई होगी, वह अवर्णनीय है।

रानी के बहुत समझाने-बुझाने पर भी, राजा मुख से तो कुछ न बोल सके, लेकिन गर्दन हिलाकर, उन्होंने रानी को बिकने की स्वीकृति [illegible]। [illegible] ने ब्राह्मण से कहा—महाराज, लाइये, पचास [illegible] ब्राह्मण ने पचास मुहरें राजा को [illegible] विश्वामित्र को सौंप दीं।

मुहरें गिनकर, ब्राह्मण ने जैसे ही तारा से कहा, कि 'दासी चलो', वैसे ही हरिश्चन्द्र को वज्रापात सा दुःख हुआ। जो रानी हजारों सेविकाओं से सेवित थी, वह आज दूसरे के घर दासी बनकर जारही है, इस दुःख से हरिश्चन्द्र मूर्छा खाकर गिर पड़े। उन्हें, यह दुःख असह्य हो उठा, कि आज से रानी, दासी कही जावेगी। इस समय, उनके हृदय को जो दुःख हो रहा है, वह केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है।

रानी, पति को मूर्छित होकर गिरते देख, घबरा उठीं और मनमें कहने लगीं, कि मैं अबतक तो इन्हें धैर्य बँधाती रहती थी, इनके दुःख को किसी प्रकार कम करती रहती थी, लेकिन अब इनकी क्या दशा होगी ? ये तो अभी से इस प्रकार अधीर हो रहे हैं, अब क्या करूँ ? ब्राह्मण से पति को समझाने के लिये आज्ञा प्राप्त कर, रानी ने हरिश्चन्द्र के मुख पर अंचल से हवा की और उन्हें उठाकर बैठाया। हरिश्चन्द्र को कुछ सचेत देख, रानी कहने लगीं—नाथ, यह समय दुःख करके मूर्छित होने का नहीं है, किन्तु सत्य पालने का है। सूर्यास्त होना ही चाहता है और अभी आधा ऋण बाकी है। यदि शेष ऋण के लिये विश्वामित्र ने अवधि न दी और बिना ऋण चुकाये सूर्य अस्त होगया, तो आप सत्य से पतित होजावेंगे। सत्यपालन के समय, मूर्छित होने से काम नहीं चल सकता, इसके लिये तो हृदय को वज्र के समान दृढ़ बनाना पड़ता है। आप तो, मेरे जाने से ही इस प्रकार दुःखी हो रहे हैं, लेकिन मैं तो आपसे भी जुदी हो रही हूँ और पराये घर की दासी भी बन रही हूँ। यदि मैं भी आप ही की तरह दुःखित होजाऊँ, तो फिर सत्य का पालन कैसे हो

सकेगा ? नाथ, जिस सत्य के लिये आपने राज्य-पाट छोड़ा, जिस सत्य के लिये आपने भूख-प्यास आदि दुःख सहते हुए मजूरी की; जिस सत्य के लिए विश्वामित्र के मर्मभेदी वचन सुने, जिस सत्य के लिये मैं बिकी हूँ, क्या उस सत्य को आप खोना चाहते हैं ? सत्य को जाने देना, वीरोचित और क्षत्रियोचित कार्य नहीं है, । इस समय आपको प्रसन्न होना चाहिये, कि मुझे जिस ऋण की चिन्ता थी, जिस ऋण के कारण सत्य के चले जाने का सन्देह था, उस ऋण में से आधा ऋण चुक गया । नाथ, किसी प्रकार की चिंता या दुःख न कीजिये, न मेरे लिये यह विचारिये, कि यह रानी थी और अब दासी होगई । मैं तो सदा से दासी हूँ, आज से नहीं । स्त्रियें, जन्म से ही दासी होती हैं। जो स्त्री, किसी की दासी न होकर स्वतन्त्र रहती है, वह पतित गिनी जाती है । इसके सिवाय, मैं किसी और कारण से दासी नहीं बनी हूँ, किन्तु सत्यपालन के लिये दासी बनी हूँ। यह तो ब्राह्मण ने मुझे खरीदा है, लेकिन इस समय यदि कोई चाण्डाल भी मेरा मूल्य देता, तो मैं प्रसन्नता-पूर्वक उसकी भी दासी बनना स्वीकार कर लेती । अपने सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए चाहे ब्राह्मण की दासी होऊँ, या चाण्डाल की, दोनों बराबर ही हैं । मुख्य-कार्य, सत्य को न जाने देना है, दासी बनना तो गौण-कार्य है, जो परिस्थिति पर निर्भर है । आप पुरुष हैं, क्षत्रिय हैं, और आपने सूर्यवंश में जन्म धारण किया है। इतने कष्ट तो आपने सह लिये, अब थोड़े से कष्ट से अधीर होकर सत्य-पालन से वंचित रहना, आपके लिये शोभा नहीं देता। आप सत्य पर विश्वास तथा धैर्य रखिये और प्रसन्न मन से मुझे आशीर्वाद

उन्हें प्रणाम करना जानता हूँ, सो प्रणाम किये लेता हूँ। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा और जब तुम पिता की सेवा करना सिखा दोगी, तब पिता की सेवा करूँगा।

तारा ने जब देखा, कि रोहित किसी प्रकार भी पति के पास न रहेगा और कदाचित रह भी गया, तो पति को इसके पालन पोषण में कष्ट होगा। तब उसने ब्राह्मण से प्रार्थना की, कि महाराज ! यह बालक मुझे नहीं छोड़ता है, यदि आप आज्ञा दें, तो मैं इसेभी साथ ले लूँ।

ब्राह्मण—मैं, घर में अकेला नहीं हूँ, किन्तु मेरे यहाँ पुत्र, पुत्र-वधू आदि भी हैं। मैंने, तुम्हें उनसे पूछकर नहीं खरीदा है, इसलिये इसी बात की चिन्ता है, कि वे लोग इस विषय में मुझे न मालूम क्या कहें। अब, यदि इसे और साथ लोगी, तो इसके हट करने, रोने आदि के समय समझाने-बुझाने तथा इसके खिलाने पिलाने आदि में तुम्हारा बहुत-सा समय जावेगा और तुम काम न कर सकोगी। इसके सिवाय, मैं तुम्हें भी खाने को दूँ और इसे भी खाने को दूँ, इस प्रकार दो मनुष्यों का भोजन-व्यय क्यों सहन करूँ ?

ब्राह्मण की अन्तिम बात सुनकर, राजा मन ही मन कहने लगे—समय ! तू अच्छी कसौटी कर रहा है। जिस बालक के सहारे से और सैकड़ों लोग भोजन करते थे, आज उसी बालक का भोजन भार हो रहा है।

ब्राह्मण की बात के उत्तर में रानी कहने लगी—महाराज, [illegible] करना या रोना तो यह [illegible] बुद्धिमान है, इसके सम्बन्ध में है

या आलस्य न करें, अन्यथा आपका जीवन तो कष्टमय होगा ही, लेकिन आप सत्य का भी पालन न कर सकेंगी। इसके सिवाय, पति के सत्य की रक्षा के लिए, अपने प्राण तक देने में सङ्कोच न करें। आप लोग, यदि इस बात का ध्यान रखेंगी, तो अपने धर्म का भी पालन करेंगी और संसार में अक्षय-कीर्ति भी प्राप्त करेंगी। अस्तु।

रानी, ने, यद्यपि राजा को बहुत कुछ धैर्य दिया था, और राजा ने धैर्य धारण भी किया था, लेकिन रानी के आँखों से ओमल होते ही, राजा का धैर्य छूट गया। रानी को दासी बनाना पड़ा, इस दुःख से, वे कातर हो उठे और मूर्छित होकर गिर पड़े। पुत्र का वियोग भी उन्हें असह्य हो उठा। वे, भूमि पर पड़कर उसी प्रकार तलफने लगे, जैसे जल से बाहर निकाली जाने पर मछली तलफती है।

विश्वामित्र ने, राजा की इस दुरवस्था से लाभ उठाना उचित समझा। उनका अनुमान था, कि इस समय यदि मैं राजा से ऋण का तकाज़ा करके, इसे कुछ कटु-वाक्य कहूँगा और दूसरी ओर अपराध स्वीकार करने से लाभ का लोभ दूँगा, तो सम्भव है, यह अपना अपराध स्वीकार करले। इस प्रकार विचार कर, विश्वामित्र अपने वाग्बाण द्वारा, हरिश्चन्द्र के दुःखित-हृदय को और भी छेदने लगे। वे, कहने लगे—अरे निर्लज्ज! सूर्य अस्त होना चाहता है, तुझे शेष ऋण देने की चिन्ता नहीं है? यदि स्त्री-पुत्र इतने प्रिय थे यदि तू दक्षिणा नहीं दे सकता था तो फिर तूने किस बल पर हठ की थी? अब, या तो तू मेरी शेष स्वर्ण-मुद्राएँ सूर्यास्त के प्रथम दे, अन्यथा अपनी हठ छोड़कर

सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ये सब अपने गुण और अपनी प्रकृति को
चाहे छोड़ दें परन्तु मैं सत्य को किसी भी प्रकार न छोड़ूँगा।

महाराज, जिस सत्य के लिये मैंने राज्य देने में भी सङ्कोच
न किया, जिस सत्य के लिये स्त्री-पुत्र सहित मैंने वन के कष्ट
सहे, जिस सत्य के लिये मैं मजदूर और रानी मजदूरनी बनी,
जिस सत्य के लिये मेरी स्त्री बाजार में दासी बनकर बिकी और
मैं खड़ा-खड़ा देखता रहा, उस सत्य को क्या अब पाँचसौ मुद्रा
के ऋण से मौत हो जाने दूँगा? इतने कष्ट तो सह लिये और
अब जरा से कष्ट के लिये क्या मैं अपना सत्य छोड़ सकता हूँ?
ऋषिजी, आप ठहरिये। मैं, आज सूर्यास्त के पहले ही आप
चुका दूँगा। कैसे चुकाऊँगा, इसके लिये रानी मुझे मार्ग बता ग
है, मैं उसी मार्ग का अवलम्बन करूँगा।

विश्वामित्र को, इस प्रकार उत्तर देकर, महाराजा-हरिश्चन्द्र
रानी के छोड़े हुए धास को, अपने सिर पर रख, बाजार में घू
घूमकर आवाज देने लगे—कि मैं दास हूँ कोई मुझे खरीद लो

विशाल-शरीर वाले और सुन्दर दास को बिकते देख, बाजा
के लोगों के हृदय में वैसा ही आश्चर्य हुआ, जैसा रानी को बिक
देखकर हुआ था। इन लोगों ने, राजा से उसी प्रकार प्रश्न कि
जैसे रानी से किये थे। लेकिन राजा ने यही उत्तर दिया, कि
दास हूँ, मेरी जात-पाँत मेरा निवासस्थान आदि क्या पूछना
हो, यह मैं अवश्य बताये देता हूँ, कि संसार में पुरुषोचि
जितने भी काम हैं मैं उन सब को कर जानता हूँ

राजा ने यद्यपि सब काम जानना और करना स्वीकार किय
लेकिन पाँचसौ मुद्रा देकर उन्हें खरीदना किसी को भी अधि

मुझे भङ्गी खरीदेगा, तो मैं उसके यहाँ भी चली जाती। जब वह भङ्गी का दासीत्व स्वीकार करने को तैयार थी, तो मुझे भङ्गी का दासत्व स्वीकार करने में क्या हर्ज है? मैं, सत्य के हाथ बिक रहा हूँ, भङ्गी के हाथ नहीं।

इस प्रकार विचार कर राजा ने भङ्गी से कहा, कि मुझे आपका दासत्व स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। आप जो आज्ञा देंगे, मैं उसका पालन करूँगा। आप, मुझे खरीद लीजिये और मेरा मूल्य इन ऋषि को चुका दीजिये।

राजा को, भङ्गी के हाथ बिकने को तैयार देख, विश्वामित्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनकी यह अन्तिम आशा थी, जिसका भी परिणाम होगई। राजा का मूल्य न लगने से, विश्वामित्र विचारते थे, कि अब सूर्यास्त में थोड़ा ही समय बाकी है, राजा को कोई खरीदता नहीं है, अतः विवश होकर वह अपना अपराध स्वीकार कर लेगा। लेकिन, जब राजा भङ्गी का दासत्व करने पर भी उतारू हो गया, तब तो विश्वामित्र की सारी आशा मिट्टी में मिल गई। उन्होंने, एक बार और प्रयत्न करना उचित समझा। वे राजा से कहने लगे—क्या भङ्गी के हाथ बिकेगा?

राजा— मुझे, इस बात को नहीं देखना है, कि मैं किसके हाथ बिक रहा हूँ। मैं तो यह देखता हूँ कि आपके ऋण से मुक्त हो रहा हूँ। इसके सिवाय—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

ऐसा होगा, जो सुख मिलनेवाले अच्छे कार्यों को न करके, दुःख मिलनेवाले बुरे-कार्यों को करेगा ? इसके सिवाय यदि कष्ट होने के कारण सद्‌कार्य पाप कहे जायँगे, तो उन कार्यों को, जिनमें कष्ट नहीं होता, अपितु सुख होता है, धर्म मानना पड़ेगा। लेकिन यह बात नहीं है। संसारमें, बुरे कार्य भी सुख की आशा से किये जाते हैं और लोग उन कार्यों में भी सुख मानते हैं। जैसे व्यभिचार करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि दुष्कार्यों को सभी बुरा कहते हैं, लेकिन इनका करनेवाला इनमें सुख मानता है। यदि वह इनमें सुख न माने, तो चोरी करे ही क्यों ? क्योंकि संसार में प्रत्येक प्राणी जो कुछ भी करता है, सुख के लिये ही करता है। यह बात दूसरी है, कि वह भ्रमवश दुःख के कारण को सुख और सुख के कारण को दुःख मानता हो, लेकिन उसकी अभिलाषा सुख की ही रहती है। जैसे-योगी लोग योग में सुख मानते हैं, लेकिन भोगी लोग भोग में। सारांश यह, कि जिन कामों के करने में काम का करनेवाला अपने आपको सुखी मानता हो, वे काम न तो नितान्त अच्छे ही हो सकते हैं, न नितान्त बुरे हीं। इसी प्रकार जिन कार्यों के करने में कर्त्ता, अपने को दुःखी मानता है वे काम भी न तो नितान्त बुरे ही हो सकते हैं, न नितान्त अच्छे ही। इससे सिद्ध है, कि कार्य की अच्छाई या बुराई उसके फल पर निर्भर है। कार्य के करते समय होने वाले सुख-दुःख को देख या अनुमान, करके कार्य की अच्छाई-बुराई नहीं कहा जासकती। जैसे-दुराचार करते समय उसका कर्त्ता उसमें सुख मानता है, लेकिन उसका फल इसलोक में ही शरीर की दुर्बलता हृदय की मलीनता आदि के रूप में प्राप्त होता है, और परलोक में

इस प्रकार विचारते-विचारते, रानी गम्भीर चिन्ता-सागर में डूब गई। कुछ देर तो वे इसी प्रकार चिन्ता-निमग्न रहीं, लेकिन थोड़ी देर बाद उन्हें ध्यान आया, कि पति को तो मैं शिक्षा देती थी, परन्तु मुझे ही वियोगाग्नि ने जलाना प्रारम्भ कर दिया! मैं, जिस सत्य का प्रभाव बतलाकर स्वामी को धैर्य बँधाती थी, क्या वह सत्य अब उनकी सहायता न करेगा? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यह निश्चित् है, कि सत्य उनकी सहायता अवश्य करेगा। मुझे, इस प्रकार की चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। जिस सत्य के प्रताप से अबतक सब कार्य सफल होते आये हैं, अब भी वही सत्य हम लोगों का रक्षक है। इसके सिवाय-मेरे चिन्ता करने से कुछ लाभ तो होगा नहीं, हाँ, हानि अवश्य होगी। इस प्रकार चिन्ता करने से शरीर तथा बल क्षीण होगा और मेरे क्रयी को मैंने जिन कार्यों के करने का विश्वास दिलाया है, उन कार्यों को न कर सकूँगी। इस प्रकार, मैं उस सत्य से भ्रष्ट हो जाऊँगी, जिसके लिये इतने कष्ट सहे हैं।

इस प्रकार हृदय में धैर्य धारणकर, तारा उसी चटाई पर सो गई। नियमानुसार, थोड़ी-सी नींद ले कर, वे सूर्योदय से पहले ही उठ बैठीं और परमात्मा का स्मरण करने लगीं। वे कह रही हैं—हे प्रभो, तेरी ही कृपा से मुझ में इतना धैर्य है, जो मैं इन कष्टों को सहन कर सकी। यदि तेरी सहायता न होती, तो इन कष्टों के समय धैर्य टूट जाना स्वाभाविक था। मैं, तुझे धन्यवाद देती और प्रार्थना करती हूँ कि सत्य के पालन में जितने भी कष्ट हों उनको सहन करने की मुझ में शक्ति रहे।

परमात्मा की प्रार्थना करके तारा, ब्राह्मण के घर पहुँची।

हमें क्या आवश्यकता है? बपर रोहित कह देता, कि मेरा भोजन माता के ही भोजन में है, अलग नहीं। जब मैं भोजन भी नहीं ले सकता, तब रुपये-पैसे क्योंकर ले सकता हूँ?

लोभ द्वारा तारा को अपने वश करने के उपाय में भी, जब ब्राह्मणपुत्र असफल रहा, तब उसने धर्म का आश्रय लिया। वह, एकांत में पुस्तकें खोलकर बैठ जाता और तारा से कहता, कि दासी, आओ तुम्हें धर्म सुनाऊँ।

दुष्ट लोग, धर्म को भी दुराचार की ढाल बनाते हैं। अनेकों ऐसी घटनाएँ आज भी सुनने में आती हैं, जिनमें धर्म के नाम पर या धर्म की ओट में दुराचार किया गया हो। भोले-भाले लोग, धर्म-वेशधारी लोगों पर विश्वास करके उनके चक्कर में आजाते हैं, लेकिन केवल वेश पर विश्वास करलेना भी, बुद्धिमानी नहीं है। तुलसीदासजी ने कहा है:—

> तुलसी देखि सुवेश, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
> सुन्दर केकी पेख, वचन अमियसम असन अहि॥

अर्थात्—केवल अच्छे वेश को देखकर, मूढ़लोग धोखा खाते हैं, चतुर लोग नहीं। अच्छे वेशधारियों में भी क्या दुर्गुण हो सकते हैं, इसके लिये मोर को देखो। मोर, देखने में कैसा सुन्दर होता है उसकी वाणी भी अमृत के समान होती है, किन्तु यह सब कुछ होने पर भी उसका भोजन साँप है।। अर्थात्, वह इस कदर [illegible] है कि [illegible] सर्प को भी खाजाता है।

[illegible] यह [illegible] इस वेशधारी का भी, परीक्षा किये बिना, [illegible] आश्वास [illegible] धोखा होने की संभावना

हमें क्या आवश्यकता है? उधर रोहित कह देता, कि मेरा भोजन माता के ही भोजन में है, अलग नहीं। जब मैं भोजन भी नहीं ले सकता, तब रुपये-पैसे क्योंकर ले सकता हूँ?

लोभ द्वारा तारा को अपने वश करने के उपाय में भी, जब ब्राह्मणपुत्र असफल रहा, तब उसने धर्म का आश्रय लिया। वह, एकांत में पुस्तकें खोलकर बैठ जाता और तारा से कहता, कि दासी, आओ तुम्हें धर्म सुनाऊँ।

दुष्ट लोग, धर्म को भी दुराचार की ढाल बनाते हैं। अनेकों ऐसी घटनाएँ आज भी सुनने में आती हैं, जिनमें धर्म के नाम पर या धर्म की ओट में दुराचार किया गया हो। भोले-भाले लोग, धर्म-वेशधारी लोगों पर विश्वास करके उनके पंजे में आजाते हैं, लेकिन केवल वेश पर विश्वास करलेना भी, बुद्धिमानी नहीं है। तुलसीदासजी ने कहा है:—

> तुलसी देखि सुवेश, मूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
> सुन्दर केकी पेख, वचन अमियसम असन अहि॥

अर्थात—केवल अच्छे वेश को देखकर, मूढ़लोग धोखा खाते हैं, चतुर लोग नहीं। अच्छे वेशधारियों में भी क्या दुर्गुण हो सकते हैं, इसके लिए मोर को देखो। मोर, देखने में कैसा सुन्दर होता है, उसकी वाणी भी अमृत के समान होती है, किंतु [illegible] का भोजन साँप है। अर्थात्, वह [illegible] है कि जीवित सर्प को भी खाजाता है।

[illegible] वेशधारियों का भी, परीक्षा किये बिना, [illegible] से धोखा होने की संभावना

२१

भङ्गी के दास हरिश्चन्द्र

संसार में, सेवा के बराबर कोई कठिन कार्य नहीं है। जो मनुष्य अपनी आत्मा का अच्छी तरह दमन कर सकता है, स्वामी [illegible] की इच्छा के अनुसार अपने स्वभाव को बना सकता है, वही [illegible] सेवाधर्म का पालन कर सकता है, दूसरा नहीं। सेवाधर्म [illegible] कठिन है, इसके लिये भर्तृहरि कहते हैं:—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा।
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतश्चाप्रगल्भः॥
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः।
सेवा धर्म परम गहनो योगिनामप्यगम्य ॥

अर्थात् — सेवक यदि चुप रहता है तो स्वामी उसे [illegible]

२१

भङ्गी के दास हरिश्चन्द्र

संसार में, सेवा के बराबर कोई कठिन कार्य नहीं है। जो मनुष्य अपनी आत्मा का अच्छी तरह दमन कर सकता है, स्वामी की इच्छा के अनुसार अपने स्वभाव को बना सकता है, वही सेवाधर्म का पालन कर सकता है, दूसरा नहीं। सेवाधर्म किस कठिन है, इसके लिये भर्तृहरि कहते हैं:—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा ।
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतश्चाप्रगल्भः ॥
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

अर्थात्—[illegible]

भंगी ने विश्वामित्र को पाँचसौ मोहरें चुका दिया और विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होकर, महात्मा हरिश्चन्द्र भंगी के साथ उसके घर आये। उनके हृदय में, न तो किसी प्रकार की ग्लानि है, न सन्ताप। विश्वामित्र के ऋण से मुक्त हो जाने के कारण, उनका चित्त प्रसन्न है और वे परमात्मा को अनेकों धन्यवाद देते हैं, कि तेरी कृपा से मेरा सत्य रह गया। तारा के द्वारा मैं जो धीरता तथा वीरता थी, उसने मुझे जो शिक्षाएँ दी थीं, वह तेरी ही कृपा थी। तेरी ही कृपा से, तारा जैसी स्त्री मिली, जिसने मुझे सत्य पर स्थिर रखा।

घर आकर, भंगी ने अपनी स्त्री से कहा, कि ये विशुद्ध सत्पुरुष अपने यहाँ आये हैं। इनको नौकर न समझकर जो कुछ बने, इनकी सेवा करना और इनके साथ कभी अनुचित व्यवहार न हो इसका ध्यान रखना। किसी कवि ने कहा है, कि [illegible] दुर्भाग्य है [illegible] नदैया पर आना पड़ा, लेकिन गंगा के [illegible]

रने लगी। यह कहने लगी, कि जब इससे काम नहीं लेना था, ो पाँचसौ मुहरें खर्च करके क्या इसे सूरत देखने को खरीदा ? मेरे आभूषणादि के लिये तो पाँचसौ मुहरें खर्च नहीं होतीं, र इस पापी के लिये अकारण ही पाँचसौ मुहरें खर्च करदीं !

कर्कश-स्वभावानुसार भंगिन, अपने पति पर क्रुद्ध हुई। भंगी से पुनः समझा-बुझाकर और डाट-फटकार दिखाकर शान्त या।

भंगी के यहाँ राजा के कुछ दिन इसी प्रकार बीते। राजा, ने स्वामी भंगी से कहा करते कि आप मुझे काम बतलाइये। ा काम किये, न तो मेरा समय ही शान्ति से बीतता है, न करना दास-प्रथा के अनुकूल ही है। लेकिन भंगी, राजा को उत्तर देता, कि बस, आप बैठे रहा कीजिये, और जहाँ इच्छा वहाँ घूमते रहिये, तथा समय-समय पर आपके मुख से मुझे शब्द सुना दिया कीजिये, यही आपका काम है।

राजा, भंगिन से भी काम माँगा करते, लेकिन भंगिन काम की जगह और कुड़कुड़ाने लगती। एकदिन, राजा के काम ने पर भंगिन ने, क्रोधावेश में राजा को, घड़ा लेकर पानी भर की आज्ञा दी। राजा, बड़े ही प्रसन्न हुए, कि क्रोधित होकर मालकिन ने काम तो बताया। वे, हर्ष-सहित घड़ा उठाकर भरने चलदिये और उसी पनघट पर पहुँचे, जहाँ ब्राह्मणपुत्र भेजी हुई तारा, जल भरने आई थी।

सच्चे-प्रेमी, कभी न कभी, किसी न किसी अवस्था में मिल जाते हैं। यदि हृदय में सच्चा प्रेम है, तो वह प्रेमी से अवश्य मिल जाता है। परमात्मा से जिसका प्रेम सच्चा है, उस पर-

[illegible] नहीं । वह जानते नहीं, कि यह इसने काम नहीं किया था, [illegible] मुर्दे जलाने का काम हुआ, मुर्दा देखने की [illegible] [illegible] सत्यवादि के लिये भी चौकसी मुर्दे जलाने नहीं होगी, [illegible] इस पद के लिये अवश्य ही चौकसी मुर्दे जलाने चाहियें।

[illegible]-स्वभावानुसार भंगिन, अपने पति पर क्रुद्ध हुई। भंगी ने उसे पुनः समझा-बुझाकर और डाँट-डपट दिखाकर शान्त किया।

भंगी के यहाँ राजा के कुछ दिन इसी प्रकार बीते। राजा, अपने स्वामी भंगी से कहा करते कि आप मुझे काम बतलाइये। बिना काम किये, न तो मेरा समय ही शान्ति से बीतता है, न ऐसा करना दास-प्रथा के अनुकूल ही है। लेकिन भंगी, राजा को यही उत्तर देता, कि बस, आप बैठे रहा कीजिये, और जहाँ इच्छा हो, वहाँ घूमते रहिये, तथा समय-समय पर आपके मुख से मुझे [illegible] सुना दिया कीजिये, यही आपका काम है।

राजा, भंगिन से भी काम माँगा करते, लेकिन भंगिन काम देने की जगह और कुड़कुड़ाने लगती। एकदिन, राजा के काम माँगने पर भंगिन ने, क्रोधावेश में राजा को, घड़ा लेकर पानी भर लाने की आज्ञा दी। राजा, बड़े ही प्रसन्न हुए, कि क्रोधित होकर भी मालकिन ने काम तो बताया। वे, हर्ष-सहित घड़ा उठाकर पानी भरने चलदिये और उसी पनघट पर पहुँचे, जहाँ ब्राह्मणपुत्र की भेजी हुई तारा, जल भरने आई थीं।

सच्चे-प्रेमी, कभी न कभी, किसी न किसी अवस्था में मिल ही जाते हैं यदि हृदय में सच्चा प्रेम है, तो वह प्रेमी से अवश्य मिल जाता है परमात्मा से जिसका प्रेम सच्चा है, उसे पर-

लेकर आये हैं, इसलिए, मैं बिना स्वामी की आज्ञा के, आ
घड़ा चढ़ाने में असमर्थ हूँ। आप, इस घड़े को लिये हुए अ
चले जाइये। जल में वस्तु भारी नहीं जान पड़ती। यहाँ मुझ
आप इसे अपने कन्धे पर रख लीजिये।

रानी की बात सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुए। वे क
लगे, यदि तुम आज मुझे सेवा-धर्म को छोड़कर घड़ा चढ़ा
देतीं, तो मेरे लिये भविष्य का कष्ट फिर बाकी रह जाता। कोई
यह युक्ति बनाकर, तुमने इस विषय में राजा के लिये मेरा
माफ कर दिया और अपना धर्म भी बचा लिया।

पति-पत्नी, अपने-अपने घड़े उठाकर चल दिये। राजा
आज मालकिन द्वारा कार्य मिलने और विपत्ति के समय क
दिनों की बिछुड़ी हुई पत्नी के दर्शन होने से बड़ी प्रसन्नता ह
लेकिन, राजा के सत्य की कसौटी होना अभी शेष है, इसलि
उनकी यह प्रसन्नता, अधिक देर तक न रही। जिस दुष्ट देव
राजा को सत्य से विचलित करने के लिये इतने कष्ट में डाला
उसने घड़ा लेकर जाते हुए राजा को, एक ऐसी ठोकर लगने
व्यवस्था की, कि जिसके लगते ही राजा गिर पड़े और घड़ा
गया। घड़े के फूटते ही, राजा की सब प्रसन्नता चिन्ता में प
लट गई। वे विचारने लगे, कि मालकिन ने, अनेक
भर्त्सना करने पर बहुत दिनों के बाद, यह जो [illegible]
यह काम [illegible] लिया। इस
[illegible]
[illegible]
[illegible]

क्वचिद् कंथाधारी, क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो।
मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

अर्थात्—कभी भूमिपर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर-पलँग पर सोते हैं। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर दालभात का भोजन करते हैं। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते हैं और कभी दिव्य सुन्दर-वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओं में से, किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुष सुख या दुःख नहीं गिनते अर्थात्—प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख वियोग-मिलन आदि का ध्यान नहीं है, उन्हें तो सत्यपालन का ध्यान है। वे तो यही विचारते हैं, कि चाहे जितनी गालियें सुननी पड़ें, चाहे जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, वे ब्राह्मन के कटु-शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि ब्राह्मन की इस कृपा के कारण ही, आज मुझे रानी के दर्शन हुए।

जिस समय ब्राह्मन क्रोधित होकर, राजा को दुर्वचन सुना रही थी, उसी समय भंगी भी बाहर से आगया। राजा के प्रति, अपनी स्त्री का ऐसा दुर्व्यवहार उसे असह्य हो उठा। वह, [illegible] लेकर अपनी स्त्री को मारने दौड़ा और कहने लगा, कि तैने मुझे इतना नासमझ, कि [illegible] तू नहीं समझी, [illegible] मैं तुझे [illegible] ही [illegible] देता हूँ।

क्वचिद् कंथाधारी, क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो।
मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

अर्थात्—कभी भूमिपर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर-पलँग पर सोते हैं। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर दालभात का भोजन करते हैं। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते हैं और कभी दिव्य सुन्दर-वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओं में से, किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुष सुख या दुःख नहीं गिनते अर्थात्—प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख वियोग-मिलन आदि का ध्यान नहीं है, उन्हें तो सत्यपालन का ध्यान है। वे तो यही विचारते हैं, कि चाहे जितनी गालियें सुननी पड़ें, चाहे जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, वे मङ्गिन के कटु-शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि मालकिन की इस कृपा के कारण ही, आज मुझे रानी के दर्शन हुए।

जिस समय मङ्गिन क्रोधित होकर, राजा को दुर्वाक्य सुना रही थी, उसी समय भंगी भी बाहर से आगया। राजा के प्रति, अपनी स्त्री का ऐसा दुर्व्यवहार उसे असह्य हो उठा। वह, डण्डा लेकर अपनी स्त्री को मारने दौड़ा और कहने लगा, कि मैंने तुझे इतना समझाया, फिर भी तू नहीं समझी, अब मैं तुझे घर से ही निकाले देता हूँ।

क्वचिद् कंथाधारी, क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो।
मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

अर्थात्—कभी भूमिपर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर पलँग पर सोते हैं। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर दालभात का भोजन करते हैं। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते हैं और कभी दिव्य सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओं में से, किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुष सुख या दुःख नहीं गिनते अर्थात्—प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख वियोग-मिलन आदि का ध्यान नहीं है, उन्हें तो सत्यपालन का ध्यान है। वे तो यही विचारते हैं, कि चाहे जितनी गालियें सुननी पड़ें, चाहे जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, वे भङ्गिन के कटु-शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि मात कल की इस कृपा के कारण ही, आज मुझे रानी के दर्शन हुए।

जिस समय भङ्गिन क्रोधित होकर, राजा को दुर्वाक्य सुना रही थी, उसी समय भर्ग भी बाहर से आगया। राजा के प्रति, अपनी माँ का ऐसा दुर्व्यवहार उसे असह्य हो उठा। वह, रुष्ट होकर अपनी माँ को मारने दौड़ा और कहने लगा कि हे दुष्ट! [illegible] समझता [illegible] नहीं समझती, मगर मैं खूब [illegible]
[illegible]

क्वचिद् भूमौ शयनं, क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनं ।
क्वचिच्छाकाहारी, क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित् कन्थाधारी, क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो ।
मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

अर्थात्—कभी भूमिपर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर-पलँग पर सोते हैं। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर शालभात का भोजन करते हैं। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते हैं और कभी दिव्य सुन्दर-वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओं में से, किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुष सुख या दुःख नहीं गिनते अर्थात्—प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख वियोग-मिलाप आदि का ध्यान नहीं है, उन्हें तो सत्यपालन का ध्यान है। वे तो यही विचारते हैं, कि चाहे जितनी गालियें सुननी पड़ें, चाहे जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, वे भक्तिन के कटु-शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि मालकिन की इस कृपा के कारण ही, आज मुझे रानी के दर्शन हुए।

जिस समय भक्तिन क्रोधित होकर, राजा को दुर्वाक्य सुना रही थी, उसी समय मंत्री भी बाहर से आगया। राजा के प्रति, अपनी स्त्री का ऐसा दुर्व्यवहार उसे असह्य हो उठा। वह, उसको उठकर अपनी स्त्री को मारने दौड़ा और कहने लगा, कि मैंने तुझे इतना समझाया फिर भी तू नहीं समझी, अब मैं तुझे घर से ही निकाल देता हूँ।

क्वचिद् कंथाधारी, क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो।
मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

अर्थात्—कभी भूमि पर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर पलँग पर सोते हैं। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर दालभात का भोजन करते हैं। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते हैं और कभी दिव्य सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओं में से, किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुष सुख या दुःख नहीं गिनते अर्थात्—प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख वियोग-मिलन आदि का ध्यान नहीं है, कहीं तो सत्यपालन का ध्यान है। वे तो यही विचारते हैं, कि चाहे जितनी गालियें सुननी पड़ें, चाहे जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, वे मालिन के कटु शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि मालिन की इस कृपा के कारण ही, आज मुझे रानी के दर्शन हुए।

जिस समय मालिन क्रोधित होकर, राजा को दुर्वचन सुना रही थी उसी समय वहाँ आ [illegible] आवश्यक। राजा के प्रति, [illegible] [illegible] [illegible]

क्वचिद् कंथाधारी, क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो।
मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

अर्थात्—कभी भूमिपर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर पलँग पर सोते हैं। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर दालभात का भोजन करते हैं। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते हैं और कभी दिव्य सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओं में से, किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुष सुख या दुःख नहीं गिनते अर्थात्—प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख आदि का ध्यान नहीं है, उन्हें तो सत्यपालन का ध्या[illegible] यही विचारते हैं, कि चाहे जितनी गालियें [illegible] जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे [illegible] लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, [illegible] शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति [illegible] मालकन की इस कृपा के कारण ही [illegible] दर्शन हुए।

जिस समय भक्तिन क्रोधित होकर, [illegible] रही थी, उसी समय भगी भी बाहर से [illegible] अपनी स्त्री का ऐसा दुर्व्यवहार उसे [illegible] न्दर अपनी स्त्री का सामने दौड़ा और [illegible] इतना समझाया फिर भी तू नहीं समझी. [illegible] हो निकाल देता है।

क्वचिद् कंथाधारी, क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो ।
मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःख न च सुखम् ॥

अर्थात्—कभी भूमिपर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर पलँग पर सोते हैं। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर दालभात का भोजन करते हैं। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते हैं और कभी दिव्य सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओं में से, किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुष सुख या दुःख नहीं गिनते अर्थात्—प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख वियोग-मिलन आदि का ध्यान नहीं है, उन्हें तो सत्यपालन का ध्यान है। वे तो यही विचारते हैं, कि चाहे जितनी गालियें सुननी पड़ें, चाहे जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, वे ब्राह्मण के कटु-शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि आज आप की इस कृपा के कारण ही, आज मुझे रानी के दर्शन हुए।

जिस समय ब्राह्मण क्रोधित होकर राजा को दुर्वचन सुना रहे थे, [illegible] फिर मुझे [illegible]

क्वचिद् कंथाधारी, क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो।
मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

अर्थात्—कभी भूमिपर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर पलंग पर सोते हैं। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर दालभात का भोजन करते हैं। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते हैं और कभी दिव्य सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओं में से, किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुष सुख या दुःख नहीं गिनते अर्थात्—प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख वियोग-मिलन आदि का ध्यान नहीं है, उन्हें तो सत्यपालन का ध्यान है। वे तो यही विचारते हैं, कि चाहे जितनी गालियें सुननी पड़ें, चाहे जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, वे ब्राह्मण के कटु शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि ब्राह्मण की इस दशा के कारण ही, आज मुझे गंगा के दर्शन हुए।

जिस समय ब्राह्मण क्रोधित होकर, राजा को दुर्वचन कह रहा था, उसी समय रानी भी बाहर से आ पहुँचीं। राजा के प्रति, [illegible] हो, [illegible] कि [illegible] में सुने [illegible]

उन्हें श्मशान में से लकड़ी आदि दाह-सामग्री देकर, अग्नि-संस्कार होने दिया कीजिए। मरघट पर चले जाने से, आपको काम भी मिल जायगा और इस कर्कशा के पंजे से भी आप बच जावेंगे।

स्वामी की आज्ञा पाकर, राजा श्मशान-भूमि को चले गये और वहीं रहकर स्वामी की आज्ञा का पालन करने लगे।

शिक्षणप्रथा-अनुसार रोहित को वृक्षों पर चढ़ना-उतरना भी सिखाया गया था, अतः वह वृक्षों पर चढ़ने-उतरने में प्रवीण था। उसने, वृक्षों पर चढ़कर अच्छे-अच्छे फलादि तोड़े। उनमें से कुछ तो उसने स्वयं खाये और कुछ माताके लिये रख लिये।

प्राचीन समय के राजा लोग, वन पर अपना अधिकार न रखकर, उसे प्रजा लिये छोड़ दिया करते थे। प्रजा में से बहुत से मनुष्य, वन के द्वारा ही अपनी जीविका चलाते थे। कोई, उसमें से घास या लकड़ी काटकर अपना निर्वाह करता, कोई गौ आदि पशु उसमें चराकर अपनी जीविका चलाता, और कोई उसमें उत्पन्न फलफूलादि खाकर अथवा बेंचकर अपनी दिन व्यतीत करता। वन पर किसी व्यक्ति-विशेष का नियन्त्रण न था, किन्तु उसपर सबको समानाधिकार प्राप्त था। बहुत से तपस्वीलोग भी उन्हीं वनों में तपस्या किया करते थे। वन के होने से वर्षा बहुत होती थी, अन्न तथा घृत-दूध अधिक उत्पन्न होता था और मनुष्यों को, शुद्धवायु भी खूब मिलती थी। लेकिन जब से वन पर राज्य का नियन्त्रण होगया है, वे रुपया बाने गये हैं, वन में प्रजा देश और पशुओं के [illegible] भी बढ़ गए हैं। आज, पशुओं को [illegible] और [illegible] बिगड़ [illegible] है अनाज की उत्पत्ति [illegible] इसके [illegible] कारण वन का [illegible] होना भी है।

[illegible] रोहित घर [illegible] रहा था, कि [illegible] तारा रोहित की चिन्ता

और कैसे अपने पिता को ढूँढ़कर ला सकोगे ? इसलिये, तुम इस मेरे लाये हुए भोजन में से भोजन किया करो।

रोहित—यदि आप मेरे लाये हुए फलों को खाना स्वीकार करें, तो मैं आपके भोजन में से भोजन कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं।

तारा ने, रोहित की बात स्वीकार की। दोनों—माता तथा पुत्र—ने, ब्राह्मण के यहाँ से लाये हुए भोजन और फलों को खाया।

रोहित को न देखकर, ब्राह्मण पुत्र ने तारा से पूछा, कि आजकल तुम्हारा पुत्र कहाँ रहता है ? तारा ने उत्तर दिया, कि अब वह अपना स्वतंत्र-जीवन व्यतीत करता है। तारा के इस उत्तर को सुनकर, ब्राह्मणपुत्र साश्चर्य विचारने लगा, कि मैं तो इन्हें कम भोजन देकर अपने वश करना चाहता था, लेकिन ये लोग तो और भी स्वतंत्र हो गये। यह स्त्री एक विचित्र-सी है, अब इससे बचकर रहना ही उचित है, अन्यथा किसी दिन अनर्थ हो जायगा। इस प्रकार विचार कर, ब्राह्मणपुत्र ने, तारा से किसी प्रकार की अनुचित आशा छोड़ दी, और कष्ट देना बन्द कर दिया।

[illegible] आता। [illegible] ब्राह्मण पुत्र [illegible] दिया है [illegible] है, [illegible] है,

और कैसे अपने पिता को ढूँढ़कर ला सकोगे? इसलिये, तुम इस मेरे लाये हुए भोजन में से भोजन किया करो।

रोहित—यदि आप मेरे लाये हुए फलों को खाना स्वीकार करें, तो मैं आपके भोजन में से भोजन कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं।

तारा ने, रोहित की बात स्वीकार की। दोनों—माता तथा पुत्र—ने, ब्राह्मण के यहाँ से लाये हुए भोजन और फलों को खाया।

रोहित को न देखकर, ब्राह्मण पुत्र ने तारा से पूछा, कि आजकल तुम्हारा पुत्र कहाँ रहता है? तारा ने उत्तर दिया, कि अब वह अपना स्वतंत्र-जीवन व्यतीत करता है। तारा के इस उत्तर को सुनकर, ब्राह्मणपुत्र साश्चर्य विचारने लगा, कि मैं तो इन्हें कम भोजन देकर अपने वश करना चाहता था, लेकिन ये लोग तो और भी स्वतंत्र हो गये। यह स्त्री एक विचित्र-स्त्री है, अब इससे बचकर रहना ही उचित है, अन्यथा किसी दिन अनर्थ हो जायगा। इस प्रकार विचार कर, ब्राह्मणपुत्र ने, तारा से किसी प्रकार की अनुचित आशा छोड़ दी, और कष्ट देना बन्द कर दिया।

रोहित, इसी प्रकार नित्य वन में फल ले आता। उसके लाये हुए फलों में से, तारा कभी-कभी थोड़े फल ब्राह्मण पुत्र को देकर कहती, कि आप इन फलों को खाकर देखिये कि ये कैसे अच्छे हैं। कभी इन फलों में से बहुत कुछ दान दिया है लेकिन अब तो मैं स्वयं ही आपका दिया हुआ भोजन करती हूँ, दान कहाँ से करूँ। यह बालक अपने उद्योग से फल लाता है,

फल उसने पहले कभी न खाया था। एक तो वह उस समय भूखा भी था और भूख में वस्तु स्वादिष्ट लगती ही है, दूसरे, फल भी कुछ अधिक स्वादिष्ट था। रोहित की भूख, उस फल के खाने से बहुत कुछ मिट गई और उसे शान्ति मिली।

रोहित ने, जब फल खा लिया, तब उसे विचार आया, कि ऐसा अच्छा फल, बिना माता को दिये, मैं अकेला ही क्यों खा गया? यदि इस फल को मैं माता के पास ले जाता, तो कैसा अच्छा होता? लेकिन धिक्कार है भूख का, जिसने इस समय मुझे माता का ध्यान न रहने दिया। अब, मैं इस फल के वृक्ष को ढूँढ़, उसमें से फल तोड़ कर माता के पास ले जाऊँगा।

इस प्रकार विचार करके, रोहित इधर-उधर उस फल के वृक्ष को देखने लगा। उसे, पास ही आम का एक वृक्ष दिखाई पड़ा, जो ऐसे ही फलों से लदा था। फल लगे हुए वृक्ष को देख कर, वह बड़ा ही प्रसन्न हुआ और विचारने लगा, इन वृक्षों को मैं अच्छी तरह देख चुका था लेकिन मुझे एक भी फल न दिखाई दिया था। अब, [illegible]

[illegible]

रोहित की इन बातों को सुन कर भी, साँप न हटा, बल्कि उसने एक ओर फुफकार छोड़ी। रोहित कहने लगा—मैं तुमसे कह चुका, कि मैं अपने अधिकार की वस्तु को किसी प्रकार भी न छोड़ूँगा, फिर भी तू मुझे डरा रहा है? यदि तू नहीं हटता है, तो मत हट, मैं दूसरी तरह से वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ लूँगा।

रोहित के इस कार्य का नाम सत्याग्रह है। भय या आपत्ति से न डरकर, अपने अधिकारों पर स्थिर रहना, या अपने अधिकारों की प्राप्ति एवम् रक्षा का उपाय करना ही सत्याग्रह है। रोहित के इस सत्याग्रह से प्रकट है, कि उस समय बालक भी सत्याग्रह करना जानते थे, लेकिन आज के तो अधिकांश वृद्ध भी, सत्याग्रह के नाम को सुनकर ही डरते सुने जाते हैं। इस अन्तर का कारण, शिक्षा का अन्तर ही है। पहले के बालकों को वीरता की शिक्षा दी जाती थी, लेकिन आज कल के बालकों को कायरता की शिक्षा दी जाती है। जहाँ, पहले के बालकों को यह सिखाया जाता था, कि वे किसी से भय न करें, वहाँ आज के बालकों को, भूत-प्रेत के झूठे भय से डराया जाता है। इस तरह, आज के बालकों में कायरता की भावना भरी जाती है, अब वे सत्याग्रह करें तो कैसे? क्योंकि सत्याग्रह वीर ही कर सकता है, कायर नहीं। अस्तु।

साँप ने, जब रोहित को मार्ग न दिया, तब रोहित वृक्ष के आसपास फैली हुई डालियों में से एक डाली पकड़कर, वृक्ष पर चढ़ने लगा। वह जैसे ही वृक्ष पर चढ़ने लगा, वैसे ही सर्प ने [illegible] अपने दाँतों से उसका पैर काट खाया। साँप के काटते ही,

२४

विपत्ति वज्र

सांसारिक-मनुष्य, और सब दुःखों के सहन करने में धैर्यवान् हो सकते हैं, परन्तु सन्तति-वियोग का दुःख उन्हें असह्य हो उठता है। कई सन्तानों के होने पर भी, किसी एक के वियोग का दुःख सहन करने में, जब उनका धैर्य छूट जाता है, तब यदि एक ही सन्तान हो, तथा उसका वियोग हो जावे, तो धैर्य न रहना स्वाभाविक है।

रोहित, तारा का एकमात्र पुत्र था। इसी रोहित के सहारे, वे अपने दिन व्यतीत करती थीं। उसी का मुख देखकर, वे प्रसन्न रहतीं और उसी से उन्हें सुन्दर-भविष्य की आशा थी। वे, इस विपत्ति के समय भी, अपने इस पुत्र-रत्न को सुरक्षित रखतीं, उसके खाने-पीने की चिन्ता रखतीं और उसके लिये आप स्वयं भूखी भी रहतीं। परन्तु दुष्ट दैव ने, तारा से उनका वह पुत्र-रत्न भी छीन लिया। पुत्रवियोग के दुःख का, तारा के हृदय में कैसा आघात हुआ होगा, यह अनुमान से ही जाना जा सकता है। अस्तु

उसकी ओर से निराश होकर, बालकों से कहा—भाइयो, वह कहाँ पड़ा है, चलकर दिखा दो। बालकों ने, तारा की बात मान ली। विलाप करती हुई तारा, उन बालकों के साथ हो ली और जहाँ रोहित पड़ा था, वहाँ चली।

बालकों ने, वहाँ पहुँचकर, विष के प्रभाव से मृत रोहित का शव, तारा को दिखा दिया। तारा ने दौड़कर, रोहित के शव को उठा लिया और विलाप करने लगी।

रोहित के शव को गोद में लेकर, विलाप करती हुई तारा कहने लगी—रोहित! बेटा रोहित! तुम किस नींद में सोये हो? तुम्हारी अभागिनी-माता, तुम्हारे समीप बैठी रो रही है, फिर तुम चुपचाप क्यों पड़े हो? सदा तो तुम अपनी माता के दुःख को दूर कर दिया करते थे, अनेक प्रकार की बातें करके आश्वासन दिया करते थे, फिर आज निठुर क्यों बन गये हो? वत्स रोहित! क्या यह समय सोने का है? क्या यह समय अपनी माता को छोड़ने का है? क्या यही अवस्था तुम्हारे परलोक गमन की है? फिर क्यों पड़े हो? तुम्हारे नेत्र और तुम्हारी आकृति तो वैसी ही है, जैसे सदा मेरी गोद में सोने पर रहा करती थी; फिर आज बोलते क्यों नहीं हो? क्यों प्रभात के चन्द्रमा के नाईं मलिन हो? क्या मुझ से रूठ गये हो? मेरे जीवन धन! यदि तुम रूठ जाओगे, तो इस संसार में इस समय मेरा कौन है जो मुझे आश्वासन देगा? तुम [illegible]

[illegible]

वहीं मैं भी जाऊँगी और अवश्य जाऊँगी। अब, इस संसार में मैं किस आशा से रहूँ? पुत्र की आशा से ही, अबतक हम सब कष्ट सहते रहे, लेकिन आज तो यह आशा भी न रही। जिस पुत्र की आशा के सहारे अबतक मैंने अपने दिन व्यतीत किये, वह पुत्र भी आज स्वप्न के राज्य की नाईं छिप गया। मेरे लिए तो आज सारा संसार शून्य है। अब, मुझे इस संसार में रहने की भी क्या आवश्यकता है।

तारा के इस करुण-क्रन्दन को सुनकर, उसके समीप बहुत-से लोग एकत्रित हो गये। तारा के हृदयविदारक-विलाप को सुनकर, उन लोगों के भी आँसू बहने लगे। सब लोग, तारा से सहानुभूति प्रकट करने लगे। तारा का विलाप सुनकर, वन के पशुपक्षियों ने भी खाना-पीना छोड़ दिया और तारा का अनुकरण करने लगे। यह सब कुछ हुआ, किन्तु रोहित के मृत-शरीर में जीवन का सञ्चार न हुआ। तारा, इसी प्रकार विलाप कर रही थी, इतने में ही, वहाँ एक सज्जन आ गये।

सज्जनों की वाणी में, न मालूम कौनसी शक्ति होती है। वे, संसार के कठिन से कठिन दुःख को भी, बात की बात में कम कर देते हैं। उनकी वाणी, दुःखरूपी रोग के लिए रामबाण औषधि के समान होती है। दुःख में सुख, निराशा में आशा, और विपत्ति में सम्पत्ति का सञ्चार कर देना ही सज्जनों की विशेषता है

[illegible]

[क्रि]या करने का विचार किया। लेकिन उन्हें ध्यान हुआ, कि बिना किसी की सहायता के, मैं अकेली-सी क्या कर सकूँगी? श्मशान कहाँ है, अन्त्येष्टि-क्रिया कैसे की जाती है, आदि बातों से मैं अनभिज्ञ हूँ, अतः यदि इन्हीं सज्जन से इस कार्य में सहायता लूँ, तो मेरा कार्य अच्छी तरह चल सकता है।

तारा तो अपने मन में, उन सज्जन से सहायता लेने का विचार कर रही हैं, लेकिन दुष्ट-दैव ने यहाँ भी तारा का पीछा न छोड़ा। उसने, ऐसी माया रची, कि तारा के समीप जितने भी लोग अबतक खड़े थे, वे सब अपनी-अपनी ओर चल दिये। तारा, उन सबको आवाज देती ही रही, लेकिन उनकी पुकार पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया, सभी अपनी-अपनी ओर चल दिये, तारा अकेली ही रह गई।

तारा के विलाप करने और उन सज्जन के समझाने में ही, संध्या हो गई थी। सूर्य, अपनी प्रकाशमयी किरणों को अस्ताचल की ओट में छिपा चुका था। अमावस्या की रात्रि, अपना प्रभाव जमाने के लिये, भयङ्कर-अन्धकार फैलाती आ रही थी। गीदड़-उल्लू आदि, अपना डरावना शब्द सुना रहे थे। आकाश में बादल छा रहे थे, जिन्होंने टिमटिमाते हुए तारों को इस प्रकार छिपा लिया था, मानो वे तारे तारा के दुःख का दृश्य भली-भाँति देखने के [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] के

[illegible]

रात्रि के समय श्मशान में अकेली बैठी रो रही हो?" हरि-
श्चन्द्र का शब्द सुनते ही तारा चौंक उठी। अपने सामने
एक विशालकाय, परन्तु भयावने-पुरुष को लँगोटा लगाये और
हाथ में लट्ठ लिये खड़ा देख, तारा कुछ सहमी। वे, भयभीत
हो विचारने लगीं, कि रात्रि के समय यह कृतान्त के समान कौन
पुरुष आ खड़ा हुआ! तारा ने साहस-पूर्वक राजा से पूछा—तुम
कौन हो, जो इस भयावनी-रात्रि में एक अनाथ, अकेली और
दुःखिनी-स्त्री के समीप आ खड़े हुए हो? क्या तुम यमदूत हो?
क्या तुम मेरे बालक को मेरी गोद से छीनने के लिये आये हो?
परन्तु तुम्हारी क्या शक्ति है, कि तुम मेरे रहते, मेरे बालक को
ले जाओ। मैं, अपनी गोद कदापि सूनी न होने दूँगी, प्रत्येक
सम्भव-उपाय से अपने प्यारे बालक की रक्षा करूँगी।

तारा की बातों को सुनकर, हरिश्चन्द्र आश्चर्य चकित हो
विचारने लगे, कि यह कौन स्त्री है, जो अभी तो रो रही थी और
अभी ऐसी साहसिन बन गई? उन्होंने तारा से कहा—देवि!
जैसी तुम विपत्ति-ग्रस्त हो, वैसा ही मैं भी विपत्ति-ग्रस्त हूँ। मैं,
यम दूत नहीं हूँ, बल्कि मनुष्य ही हूँ और इस श्मशान की रक्षा
करता हूँ। क्या तुम्हारा पुत्र मर गया है और तुम उसी के लिये
शोक कर रही हो? लेकिन, इसके लिये तुम्हारा शोक वृथा है।
संसार में जो आता है [illegible] इस जगत में [illegible] ही [illegible]
है। [illegible] कहीं [illegible] मैं [illegible]
[illegible] का [illegible], [illegible]
[illegible] नहीं [illegible]।
[illegible] का [illegible] पुके है।

मशान में बालक, युवा और वृद्ध सभी अवस्था के शामिल हैं। ...रा पुत्र भी उसी प्रकार का एक है, अतः लाओ इसे भी ...हैं। बादल उमड़ रहे हैं, यदि वर्षा हो जायगी तो फिर ...कड़ियें भली प्रकार न जलेंगी और तुम्हारा पुत्र अधजला ...रह जायगा।

राजा की बातचीत सुनकर, तारा विचारने लगी कि यह कौन पुरुष है? इसका स्वर तो परिचित-सा जान पड़ता है। तारा, इस प्रकार विचार ही रही थी, कि आकाश में बिजली चमकी। बिजली के प्रकाश में, राजा के मुख को देखकर, रानी ने अनुमान किया, कि यद्यपि यह पुरुष है तो हीन वेश में, लेकिन इसकी आकृति सज्जनता की परिचायक है। निश्चित ही, यह कोई बहुत सज्जन पुरुष है। तारा यह विचार कर उससे कहने लगी—महाराज, आप बातचीत से तो बहुत सज्जन मालूम होते हैं, कहीं आप कोई देव तो नहीं हैं और इस रात्रि के समय मेरी परीक्षा लेने या मेरी सहायता करने तो यहाँ नहीं आये हैं! यदि ऐसा हो, तो कृपा कर मेरे पुत्र को जिला दीजिये। मैं, आजन्म आपका आभार मानूँगी और आपको अनेकानेक धन्यवाद दूँगी।

[illegible]

भी सुना है, कि लोग साँप के विष को मन्त्र द्वारा उतार देते हैं। यदि आप साँप उतारना जानते हों और इस दुःखिनी के एकमात्र पुत्र को जीवित करदें, तो बड़ी कृपा होगी।

राजा—मैं, विष उतारना भी नहीं जानता और न अब मृत-पुत्र जीवित ही हो सकता है। इस प्रकार की अनावश्यक-बातचीत में समय जा रहा है, फिर कहीं वर्षा हो गई, तो तुम्हारे पुत्र का जलना कठिन हो जायेगा। इसलिये लाओ, इसे जला दें, विशेष बातचीत से लाभ नहीं, किन्तु हानि ही है।

तारा के स्वर को सुनकर राजा और राजा के स्वर को सुनकर तारा, हृदय में यह तो विचार करते हैं, कि यह स्वर परिचित है, परन्तु संसार में एक ही स्वर के कई मनुष्य हो सकते हैं, यह विचार कर कोई भी एक-दूसरे से नहीं पूछता। राजा की अन्तिम-बात से, तारा को अपने पुत्र की ओर से निराशा हो गई। उन्होंने, राजा से कहा, यदि मेरा दुर्भाग्य ऐसा ही है, यदि मैं अपने पुत्र को किसी प्रकार भी फिर जीवित नहीं देख सकती, और तुम्हारी इच्छा इसे जला देने की ही है, तो लो, जला दो।

राजा—यहाँ जो शव जलाये जाते हैं, उनके जलाने में व्यय होनेवाली लकड़ी के मूल्य स्वरूप, एक टका कर देना पड़ता है। तुम भी एक-टका कर लाओ, तब तुम्हारा पुत्र जलाया जायेगा।

तारा—मेरे पास एक टका तो क्या, एक कौड़ी भी नहीं है, जो कर-स्वरूप दे सकूँ। मैं विनय करती हूँ आप मुझ पर दया करके, इसे बिना कर लिए ही जला दीजिए।

समय और स्थिति बड़ी विचित्र है। संसार के सब [illegible] की स्थिति या [illegible] के [illegible] की तरह घूमती रहती

भी सुना है, कि लोग साँप के विष को मन्त्र द्वारा उतार देते हैं। यदि आप साँप उतारना जानते हों और इस दुखिनी के एकमात्र पुत्र को जीवित करदें, तो बड़ी कृपा होगी।

राजा—मैं, विष उतारना भी नहीं जानता और न अब मृत-पुत्र जीवित ही हो सकता है। इस प्रकार की 'अनावश्यक' बातचीत में समय जा रहा है, फिर कहीं वर्षा हो गई, तो तुम्हारे पुत्र का जलना कठिन हो जावेगा। इसलिये लाओ, इसे जला दें, विशेष बातचीत से लाभ नहीं, किन्तु हानि ही है।

तारा के स्वर को सुनकर राजा और राजा के स्वर को सुनकर तारा, हृदय में यह तो विचार करते हैं, कि यह स्वर परिचित है, परन्तु संसार में एक ही स्वर के कई मनुष्य हो सकते हैं, यह विचार कर कोई भी एक-दूसरे से नहीं पूछता। राजा की अन्तिम-बात से, तारा को अपने पुत्र की ओर से निराशा हो गई। उन्होंने, राजा से कहा, यदि मेरा दुर्भाग्य ऐसा ही है, यदि मैं अपने पुत्र को किसी प्रकार भी फिर जीवित नहीं देख सकती, और तुम्हारी इच्छा इसे जला देने की ही है, तो लो, जला दो।

राजा—यहाँ जो शव जलाये जाते हैं, उनके जलाने के व्यय के लिये लकड़ी के मूल्य स्वरूप, एक टका कर देना पड़ता है। तुम भी एक-टका कर लाओ तब तुम्हारा पुत्र जलाया जावेगा।

तारा—मेरे पास एक टका तो क्या, एक कौड़ी भी नहीं है [illegible] मैं [illegible] हूँ [illegible] तुम पर [illegible]

[illegible]

[illegible] है [illegible] के [illegible]

[illegible] तुम्हारा [illegible]

से पति की निन्दा सुन रही हूँ। यह पति की महिमा से अनभिज्ञ है, इसी से इसने पति के लिये ऐसे अशिष्ट-शब्दों का प्रयोग किया है। यदि यह पति की महिमा जानता होता, तो ऐसा बोलने का साहस कदापि न कर सकता। फिर राजा से बोलीं—कृपाकर आप पति की निन्दा न कीजिये। आपको यह नहीं मालूम है, कि मेरे पति कैसे हैं और वे किस कारण मुझ से पृथक् हुए हैं। मेरे पति न तो निठुर ही हैं, न निर्दयी ही। वे, बड़े ही दयालु हैं, सत्य-धर्म की रक्षा के लिये, अपना सब सुख त्यागकर, आप स्वयं घोर-कष्ट उठाने को तैयार हुए हैं। मैं, उन्हें आँखों की पुतली के समान और यह पुत्र पुतली के तारों के समान प्रिय है, परन्तु धर्म-पालन के लिये, वे हमें त्यागकर, इस समय हम से दूर हैं।

तारा की बात सुनकर, हरिश्चन्द्र विचारने लगे, कि ये सब बातें भी मुझ ही पर घटती हैं, इसका स्वर भी तारा के स्वर-सा प्रतीत होता है, तो क्या यह तारा है? क्या तारा पर आज इतनी विपत्ति है? लेकिन तारा पर ऐसी विपत्ति का होना सम्भव नहीं। उन्होंने, तारा से पूछा—क्या स्त्री, पुत्र और राज्य का त्यागी तुम्हारा पति हरिश्चन्द्र ही है? क्या तुम हरिश्चन्द्र की पतिव्रता-स्त्री तारा हो?

राजा की इस बात को सुनकर, तारा साश्चर्य विचारने लगीं, कि यह श्मशान-रक्षक पति को और मुझ को कैसे जानता है? वे, इस प्रकार विचार कर ही रही थीं, कि मेघाच्छन्न आकाश में बिजली चमकी। बिजली के प्रकाश से, दम्पति ने एक-दूसरे को पहचाना। पति को देखकर, रानी को धैर्य हुआ, कि अब पति के आजाने से मेरी चिन्ता कम हुई। अब, मेरी दुःख नौका को

हाय ! आज मैं निःसन्तान हो गया ! बेटा ! उठो,- उठकर एक बार अपने पिता से तो कुछ कहो ! वत्स ! तुम्हारा पिता, तुम्हारे बिना कितना व्याकुल है यह तो देखो ! उसे कुछ शान्ति तो दो !

राजा और रानी, पुत्र शोक से इतने अधीर हो उठे, कि विलाप करते-करते मूर्छित होगये। इस मूर्छा के कारण, वे पुत्र-शोक की वेदना से यद्यपि मुक्ति पागये, तथापि यह स्थिति अधिक देर तक न ठहर सकी। जल-कण मिश्रित शीतल-पवन ने, उनके शरीर को स्पर्श करके, उनकी मूर्छा को दूर कर दिया। मूर्छा के दूर होते ही, पुत्रशोक के दुःख ने, उन्हें पुनः घेर लिया और वे फिर विलाप करने लगे।

विलाप करते-करते, राजा कहने लगे—प्रिये तारा ! अब हमलोग संसार में किस आशा से जीवित रहें ? आजतक तो यह आशा थी, कि पुत्र रोहित बड़ा होकर हमारे दुःख दूर कर देगा, हमें दासत्व से मुक्त करेगा, परन्तु आज यह आशा भी न रही ! इस रोहित के सहारे से ही, मैं प्रसन्नतापूर्वक भङ्गी का सेवक बना हुआ था और तुम ब्राह्मण के यहाँ दासीपना करती थीं, परन्तु आज इस आशा का स्तम्भ ही टूट गया। अब, हम लोगों को संसार में रहने से लाभ ही क्या है ? दिनरात पुत्र शोक के दुःख से क्यों दग्ध हों ? इसलिये यही उचित है, कि रोहित के साथ ही हम लोग भी प्राण त्याग-कर, रोहित का अनुकरण करें। लेकिन, प्राण-त्याग के पहले यह उचित है, कि हमलोग अपने धर्मपालन की आलोचना कर डालें, कि उसमें किसी प्रकार की कोई भूल तो नहीं हुई !

सांसारिक-मनुष्य, जब दुःख से घबरा उठते हैं, तब वे दुःख-

दुःख से व्यथित होकर आत्महत्या करना और कर्त्री-स्वामी को धोखा देना, अपना कार्य नहीं है। इसलिये मरने का विचार त्याग कर, धैर्यपूर्वक इस कष्ट को सहन करो और अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहो।

पति की बात सुनकर तारा कहने लगी—नाथ! इसी कारण मैंने रोहित की मृत्यु के स्थान पर प्राणत्याग नहीं किया था, अन्यथा अबतक कभी से रोहित का अनुकरण करचुकी होती। परन्तु दुःखावेश में, इस समय मुझे यह ज्ञान न रहा और मैं आपकी आज्ञा मानकर, मरने के लिये तैयार होगई। अब परमात्मा की कृपा से, आप ही के हृदय में यह बात आगई, जिससे हमलोग आत्महत्या के पाप से भी बचगये और स्वामी के साथ विश्वासघात करने के पाप से भी।

अन्तिम-कसौटी

यह विचारकर, कि आत्महत्या करना महान् पाप है और हम आत्महत्या करने के लिये स्वतन्त्र भी नहीं है, राजा-रानी ने मरने का विचार त्याग दिया। अब, उनके सामने फिर रोहित के दाह-संस्कार की समस्या आखड़ी हुई। राजा कहने लगे—तारा, जो होना था, वह हो चुका, अब एक टका कर लाओ, तो रोहित को जला दें। मेरे क्रयी-स्वामी की आज्ञा है, कि बिना टका लिये शव जलाने को लकड़ी न दी जाय।

तारा—नाथ, आप टका किससे माँग रहे हैं? क्या दुःख के कारण इस समय आप अपने आपको भी भूल गये? यदि नहीं तो फिर आप मुझसे टका कैसे माँग रहे हैं? मैं, आपकी वही अर्द्धांगिनी-स्त्री हूँ, जिसका विवाह आपके साथ विधिवत हुआ था और यह शव आपके उसी पुत्र रोहित का है, जिसे आप प्राणों से भी अधिक प्रिय समझते थे। मैं, इसके शव को न मालूम किन-किन कष्टों को सहकर यहाँ तक लाई, अब इसके पिता होने के कारण आपका कर्त्तव्य है, कि आप इसका अन्तिम-संस्कार करें, उसकी जगह आप और मुझही से कर माँग रहे

दुःख से व्यथित होकर आत्महत्या करना और अपने स्वामी को धोखा देना, अपना कार्य नहीं है। इसलिये मरने का विचार त्याग-कर, धैर्यपूर्वक इस कष्ट को सहन करो और अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहो।

पति की बात सुनकर तारा कहने लगी—नाथ! इसी कारण मैंने रोहित की मृत्यु के स्थान पर प्राणत्याग नहीं किया था, अन्यथा अबतक कभी मैं रोहित का अनुकरण करचुकी होती। परन्तु दुःखावेश में, इस समय मुझे यह ज्ञान न रहा और मैं आपकी आज्ञा मानकर, मरने के लिये तैयार होगई। अब पर-मात्मा की कृपा से, आप ही के हृदय में यह बात आगई, जिससे हमलोग आत्महत्या के पाप से भी बचगये और स्वामी के साथ विश्वासघात करने के पाप से भी।

अन्तिम-कसौटी

यह विचारकर, कि आत्महत्या करना महान् पाप है और हम आत्महत्या करने के लिये स्वतन्त्र भी नहीं है, राजा-रानी ने मरने का विचार त्याग दिया। अब, उनके सामने फिर रोहित के दाह-संस्कार की समस्या आखड़ी हुई। राजा कहने लगे—तारा, जो होना था, वह हो चुका, अब एक टका कर लाओ, तो रोहित को जला दें। मेरे स्वामी की आज्ञा है, कि बिना टका लिये शव जलाने को लकड़ी न दी जाय।

तारा—नाथ, आप टका किससे माँग रहे हैं? क्या दुःख के कारण इस समय आप अपने आपको भी भूल गये? यदि नहीं तो फिर आप मुझसे टका कैसे माँग रहे हैं? मैं, आपकी वही अर्द्धांगिनी-स्त्री हूँ जिसका विवाह आपके साथ विधिवत हुआ था और यह शव आपके उसी पुत्र रोहित का है, जिसे आप प्राणों से भी अधिक प्रिय समझते थे। मैं, इसके शव को न मालूम किन 'किन कष्टों' से लेकर यहाँ तक आई। अब इसके पिता होने के कारण आपका कर्तव्य है कि आप इसका अन्तिम-संस्कार करें उसकी जगह आप और मुझही से कर माँग रहे

हैं ? नाथ, क्या आप से यह बात छिपी है, कि मैं दूसरे की दासी हूँ और मेरे पास एक पैसा भी नहीं है ? ऐसी दशा में आप मुझसे टका माँगें, यह कहाँ का न्याय है ?

ऐसी विकट परिस्थिति में पड़ कर, साधारण-कोटि के मनुष्यों का धैर्य छूट जाता है। परन्तु जो महापुरुष हैं, वे कठिन से कठिन सङ्कट पड़ने पर भी अपना धैर्य नहीं छोड़ते। किसी कवि ने कहा है:—

कदर्थितस्यापि हि धैर्य वृत्तेर्न शक्यते धैर्य गुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदापि देव ॥

अर्थात्—धैर्यवान पुरुष, घोर-दुःख पड़ने पर भी, अपने धैर्य को नहीं छोड़ता। क्योंकि अग्नि को उल्टी कर देने पर भी, उसकी शिखा ऊपर ही को रहती , नीचे की ओर नहीं जाती।

इसी के अनुसार, हरिश्चन्द्र, यहाँ भी धैर्य से विचलित न हुए और कहने लगे—तारा, यद्यपि तुम्हारा यह कथन अनुचित नहीं है, परन्तु यह तो बताओ कि तुम ब्राह्मण के यहाँ दासीपना क्यों कर रही हो ?

तारा—सत्य और धर्म की रक्षा के लिये।

हरिश्चन्द्र—जिस सत्य और धर्म की रक्षा के लिये राजपाट छोड़ा, मजदूरी की, तुम ब्राह्मण के यहाँ और मैं भङ्गी के यहाँ बिका, जिस सत्य के लिये इतने कष्ट सहे, क्या उस सत्य और धर्म को केवल एक टके के लिये चला जाने दें ? तुमने, एक सहस्र स्वर्णमुद्राओं के समय भी धर्म छोड़ने को न कहा, अपितु

तुम्हारी रक्षा करना और पुत्र का अन्तिम-संस्कार करना यद्यपि मेरा कर्त्तव्य है, तथापि मैं विवश हूँ। मुझे, बिना कर वसूल किये, शव जलाने देने का किञ्चित भी अधिकार नहीं है, इसलिये, मुझसे बिना कर लिये जलाने देने की आशा छोड़ो और कर चुकाने का कोई उपाय करो।

पाठकगण! कहाँ तो आज के ये लोग हैं, जो अकारण ही या थोड़े से लोभ में पड़कर, दिनदहाड़े लोगों की आँखों में धूल झोंकते और झूठी सौगन्दें खा-खाकर सत्य का त्याग करते हैं और कहाँ सत्यमूर्ति महाराजा हरिश्चन्द्र हैं, जो आधी और अँधेरी-रात में भी, अपनी स्त्री पर दया करके, अपना सत्य छोड़कर, अपने ही पुत्र को जलाने की बिना कर लिये स्वीकृति नहीं देते। कहाँ तो आज के वे लोग हैं, जो सत्य बात को झूठ और झूठ को सत्य बना देते हैं, स्वामी क्या, अपने ही माँ-पुत्र और धर्म को धोखा देने में भी नहीं हिचकिचाते और कहाँ हरिश्चन्द्र हैं, जो स्वामी के अर्पण कर को, अपने पुत्र के लिये, इस विपदावस्था में भी नहीं छोड़ रहे हैं। इस अन्तर का कारण, केवल सत्य पर विश्वास न होना और होना है। आज के ऐसे लोगों को, सत्य पर विश्वास नहीं है। वे विचारते हैं, कि यहाँ कौन देख रहा है? या हमारे झूठ को कौन समझ सकता है? परन्तु हरिश्चन्द्र को सत्य पर विश्वास था। वे, इस बात को खूब समझते थे, कि सत्य सर्वत्र व्यापक है, यह किसी समय भी छिपाने से नहीं छिप सकता और इस दृष्टान्त को प्रगट करना भी पाप है।

[illegible] का अंत्येष्टि-क्रिया के नियमानुसार, हरिश्चन्द्र के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पर, परन्तु

लकड़ी के लिये एक टका भी नहीं है, जो देकर इसका अग्नि-संस्कार करूँ!

रानी, इस प्रकार करुणापूर्ण विलाप कर रही थीं, कि सहसा उन्हें ध्यान आया, कि इस प्रकार रुदन और विलाप से पुत्र के अग्निसंस्कार में न तो किसी प्रकार का लाभ ही हो सकता है, न कहीं से किसी प्रकार की सहायता मिलने की ही आशा है। मेरे पास यह जो पहनने की साड़ी है, क्या इसमें की आधी-साड़ी एक टके मूल्य की भी न होगी? एक टके की ही नहीं, वह तो इससे बहुत अधिक मूल्य की होगी, फिर इसमें से आधी साड़ी फाड़कर, एक टके के बदले क्यों न दे दूँ और इसे देकर अपने पुत्र का अग्निसंस्कार क्यों न करूँ? यदि ब्राह्मण को मेरी दशा पर दया आवेगी और वे मुझे कोई दूसरा वस्त्र दे देंगे, तब तो अच्छा ही है, अन्यथा इस आधी-साड़ी से ही मैं अपना तन ढाँके रहूँगी। लेकिन पुत्र को बिना अग्निसंस्कार किये पड़ा रहने देना, मातृ-कर्त्तव्य के विरुद्ध है।

इस प्रकार विचारकर, रानी ने अपनी साड़ी में से आधी साड़ी फाड़ी और राजा से कहने लगीं,—आप एक टका कर के बदले में यह वस्त्र, जो एक टके से अधिक मूल्य का है, ले लीजिये। अब तो आपको पुत्र का अग्निसंस्कार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है?

पाठकगण! साधारण मनुष्य का ऐसी अवस्था में सत्य से विचलित हो जाना, आश्चर्य की बात नहीं है; लेकिन हरिश्चन्द्र असाधारण पुरुष है, जो इस दशा में भी सत्य से विचलित न हुए। स्त्री की ऐसी दशा देखकर, पुरुष का हृदय पसीज उठना

राजा-रानी आश्चर्य चकित रह गये। उसी समय, एक दिव्य-शरीरधारी देव, आकाश से उतरकर राजा और रानी के पास आ खड़ा हुआ। यह वही देव है, जिसने हरिश्चन्द्र को सत्यभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी। इसी देव ने, इन्हें इतने कष्ट में डाला था और अपनी माया से, रोहित को साँप से डसाकर, उसे निर्जीव-सा कर दिया था। इस अन्तिम कसौटी में भी, राजा को सत्य पर दृढ़ देख, उसका अभिमान काफूर की तरह उड़ गया। अब, उसने दीनता धारण की और अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगा। श्मशान में आकर, सबसे पहले उसने रोहित पर से अपनी माया हटाई। माया के हटते ही, रोहित उठकर उसी प्रकार खड़ा होगया, जैसे सोकर उठा हो।

अपने समीप, एक दिव्य-शरीरधारी देव को खड़ा, तथा रोहित को इस प्रकार जीवित होजाते देख, राजा और रानी का आश्चर्य अत्यधिक बढ़ गया। वे, इस बात को न समझ सके, कि यह सब क्या होरहा है, हमारे समीप यह कौन आखड़ा हुआ है और मृत रोहित जीवित कैसे होगया? इतने ही में वह देव नम्रता दिखाता हुआ, राजा और रानी से कहने लगा—आप लोग मुझपर दया करके मेरा अपराध क्षमा कीजिये।

देव की इस क्षमा-प्रार्थना से तो, राजा-रानी के आश्चर्य का और भी ठिकाना न रहा। राजा ने देव से कहा—मैं, नहीं जानता कि आप कौन हैं और आपने मेरा क्या अपराध किया है। कदाचित आपने मेरा कोई अपराध किया भी हो, तब भी मुझे आपपर किसी प्रकार का क्रोध नहीं हो सकता।

राजा की बात के उत्तर में देव अपना परिचय देकर उनसे

द्वारा मेरे सत्य की परीक्षा न होती, तो मैं न समझता, कि मैं कहां तक सत्य का पालन करसकता हूँ। आपने, मेरे सत्य की परीक्षा के लिये, स्वर्गसुख छोड़ कर कष्ट उठाया, इसके लिये आप धन्यवाद के पात्र हैं।

देव—आपका यह कथन भी, आपकी महानता का परिचायक है। लेकिन वास्तव में उपकारी मैं नहीं, किन्तु आप हैं। यदि आप इन कष्टों को सहन न करते, तो मुझ में जो अभिमान था, वह भी नष्ट न होता और सत्य पर भी मुझे अश्रद्धा हो जाती। मुझ में, अबतक बहुत ही अभिमान था, मैं, अभिमानवश इन्द्र को भी कुछ न समझता था। लेकिन आपने कष्ट सहन करके, मेरे अभिमान को नाश कर दिया। अब, मुझ में वह अभिमान किंचिन्मात्र भी नहीं रहा, जो कुछ समय पूर्व था। आपने जो कष्ट सहे हैं, वे सब मेरा उपकार करने के लिये ही। आपकी इस कष्ट सहन की तपस्या से ही, मेरा वह अभिमान नष्ट हुआ है, जो और किसी तरह नष्ट नहीं होसकता था। मैं, आया तो था आपको कष्ट देने, लेकिन मैं उसी प्रकार शुद्ध होगया, जैसे पारस को काटनेवाली छुरी, पारस के स्पर्श से स्वयं ही सोने की बन-जाती है। मेरे द्वारा, इतने कष्ट पाने पर भी, आपने मेरे अपराध क्षमा कर दिये, यह आपकी महान उदारता है। आपके क्षमा करने से, मेरा अज्ञान भी मिट गया और मेरा आत्मा भी पवित्र होगया।

से चिन्तित थे ही, दूसरे प्रजा की इस अवस्था की चिन्ता ने उन्हें और भी घेर लिया। वे विचारने लगे, कि यदि-प्रजा की यही दशा रही, तो सारी प्रजा थोड़े ही दिनों में हरिश्चन्द्र की विरहाग्नि में जल मरेगी। हरिश्चन्द्र ने, चलते समय जो उपदेश दिया है, उसके अनुसार हमारा कर्त्तव्य है, कि प्रजा की इस चिन्ता को दूर करके, उसे अपने कर्त्तव्य पर पुनः अरूढ़ करें।

इस प्रकार विचार कर, वे मुखिया, प्रजा को समझाने लगे। उन्होंने, प्रजा का ध्यान हरिश्चन्द्र के उपदेश की ओर आकर्षित किया और उसे समझाया, कि इस प्रकार हरिश्चन्द्र की चिन्ता करके यदि आप लोग प्राण भी छोड़ दें, तब भी कोई लाभ नहीं है। अतः यही उचित है, कि महाराजा हरिचन्द्र के आदेशानुसार रहकर, जीवन व्यतीत करें।

मुखियों के, इस प्रकार समझाने-बुझाने पर, प्रजा को कुछ धैर्य हुआ। उधर विश्वामित्र, प्रजा के हृदय में हरिश्चन्द्र के प्रति जो सद्भाव हैं, उन्हें मिटाकर अपना प्रभाव जमाने के लिये, कठोरतापूर्वक शासन करने लगे। उनके शासन से, सभासद्गण रुष्ट हो गये और विश्वामित्र के इस कठोर शासन का प्रतिकार करने के लिये, उन्होंने एक प्रजा-परिषद् स्थापित की। विश्वामित्र, प्रजा पर अपना प्रभाव जमाने के लिये जो भी कठोर नियम प्रचलित करते, यह परिषद उनका विरोध करती, तथा सत्याग्रह द्वारा उनके नियम को कार्यरूप में परिणित न होने देती। प्रजा के इस कार्य से विश्वामित्र दिन-प्रति-दिन और भी अधिक चिढ़ते जाते। [illegible] वे प्रजा पर अपना आतङ्क जमाने के लिये, विशेष अत्याचार करने लगे। प्रजा उनके अत्याचारों को धैर्य-

विश्वामित्र, जब किसी प्रकार भी प्रजा के हृदय पर से, हरिश्चन्द्र का आधिपत्य मिटाकर, अपना आधिपत्य न जमा सके और इस ओर से निराश हो गये, तब विवश हो, उन्होंने प्रजा को राजसभा में आमन्त्रित किया। प्रजा के आजाने पर, वे कहने लगे—मैंने, आपके राजा को तथा आपको, बहुत ही कष्ट दिया है। राजा, राजपरिवार और आपलोगों की सहनशीलता, अग्नि बन कर मुझे जलाये दे रही है। मैं, अपने कार्यों के लिये हृदय से पश्चात्ताप करता हूँ और आप लोगों से क्षमा चाहता हूँ। अब, मैं राज्यकार्य छोड़ता हूँ और आपलोगो के प्रिय राजा को भी, बहुत शीघ्र खोज लाता हूँ। आपलोग, उन्हें पुनः अपना राजा बनाकर प्रसन्नता पूर्वक रहें।

विश्वामित्र की इन बातों को सुनकर, प्रजा वैसे ही प्रसन्न हो उठी, जैसे खोया हुआ धन पुनः मिलने की आशा हो गई हो। सारी प्रजा, विश्वामित्र के इस विचार की प्रशंसा करने लगी और उन्हें धन्यवाद देने लगी।

हरिश्चन्द्र को लाकर, पुनः राज्यसिंहासन पर आरूढ़ करने की अभिलाषा को, कार्यरूप में परिणत करने के विचार से, विश्वामित्र अयोध्या से काशी की ओर चले। मार्ग में, उनके हृदय में अनेक सङ्कल्प-विकल्प होते जा रहे हैं। उनके चित्त में, रह-रह कर यह शङ्का होती है, कि मेरी प्रार्थना पर हरिश्चन्द्र अवध को लौट आवेंगे या नहीं? किन्तु जैसे भी होगा, वैसे उनको लाऊँगा अवश्य, यह निश्चय करके, विश्वामित्र अपना मार्ग काटने लगे।

पश्चात्, उन्हें सभा के बीच में रखे हुए रत्न-सिंहासन पर बैठाया और इन्द्र तथा सब देवी-देवता, उनकी स्तुति करने लगे।

पाठकगण ! कुछ ही देर पहले हरिश्चन्द्र और तारा, अन्धकारमयी-रात्रि में, श्मशान के मध्य अपने प्रिय-पुत्र के शोक में दुःखित थे। अब, इनको रामन्य से मुक्त होने की, कोई आशा न थी। परन्तु थोड़ी ही देर बाद, अन्धकार की जगह प्रकाश और शोक की जगह हर्ष प्राप्त हुआ है। यदि इस समय, राजा और रानी अपने सत्य पर स्थिर न रहते, यदि वे बिना कर लिये-दिये ही पुत्र का अग्निसंस्कार करने के लिये तैयार होजाते, तो न तो उन्हें यह प्रकाश ही मिलता, न आनन्द ही। सारांश यह, कि सत्यपालन में इन्होंने जितना कष्ट उठाया है, वह कष्ट सत्यपालन की तपस्या थी और उस तपस्या के फल स्वरूप ही यह प्रकाश और आनन्द प्राप्त हुआ है। सत्यपालन में, कष्ट को धैर्यपूर्वक सहने और इन कष्टों से भयभीत हो सत्य न छोड़ने का ही यह परिणाम है। किसी शायर ने कहा है:—

सब्र तल्खस्त लेकिन बर शीरीं दारद।

अर्थात्—सन्तोष कड़ुआ अवश्य है, लेकिन फल मीठा ही देता है।

इसके अनुसार सत्यपालन में कष्ट धैर्य से सहने पर, अन्त [illegible] उन कष्टों [illegible] और [illegible] में विचलित न होने [illegible]

श्मशान में, अभूतपूर्व प्रकाश देख और कोलाहल सुन, काशी निवासी, आश्चर्यसहित विचारने लगे, कि आज श्मशान में यह प्रकाश और कोलाहल कैसा है ? बहुत से लोग, श्मशान की ओर इस प्रकाशमय दृश्य को देखने के लिये दौड़े। महाराजा हरिश्चन्द्र का क्रयी भंगी भी, यह विचारकर श्मशान में दौड़ा हुआ आया, कि आज मेरे श्मशान में क्या गड़बड़ है। भङ्गी, जैसे ही श्मशान में पहुँचा और राजा की दृष्टि उसपर पड़ी, वैसे ही राजा सिंहासन पर से उतर पड़े। उन्होंने, भङ्गी का सत्कार करते हुए कहा, कि स्वामी ! यह सब आप ही के चरणों का प्रताप है। आप ही ने, मुझे खरीदकर, मेरे सत्य की रक्षा की थी, यह उसी का फल है।

भङ्गी, हाथ जोड़कर राजा से कहने लगा—आप मुझे क्षमा कीजिये। आप के साथ, मैंने तथा मेरी स्त्री ने, बहुत अभद्र व्यवहार किया है। मैं, उस पाप से दबा जा रहा हूँ। अतः आप मुझे क्षमा करके मेरा उद्धार कीजिये।

राजा—नहीं स्वामी, आपकी ओर से मेरे साथ सदा सहृदयता का ही व्यवहार हुआ है। मालिकिन भी बड़ी कृपालु हैं। उन्हीं की कृपा से, मुझे श्मशान-रक्षा का कार्य मिला था, जिसका फल आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

सज्जन मनुष्य, अपकारी के अपकार को तो भूल जाते हैं, परन्तु उपकारी के उपकार को, किसी समय भी नहीं भूलते। किसी उच्च-स्थान पर पहुँच जाने पर भी, वे उपकारी के उपकार को याद रखते और कृतज्ञता प्रकट करते रहते हैं। इसी के अनुसार, इस समय रचनाओं से सेवित होने पर भी, हरिश्चन्द्र ने,

को भी देखता आऊँगा, तथा अपनी दासी की खोज भी करता आऊँगा। श्मशान में आकर जब उसने यह देखा; कि दासी तो वहाँ रानी बनी हुई बैठी है, तब तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह, मन ही मन पछताने लगा, कि अवध की महारानी तारा ही मेरे यहाँ दासी बनकर रहती थीं। उनसे, मैंने बहुत ही निकृष्ट सेवाएँ कराईं और बहुत ही कठोर व्यवहार किया है। अब, मैं किस मुख से उनके सन्मुख जाऊँ ?

उधर रानी भी चिन्तित थीं, कि मालिक ने मुझे कुछ ही समय का अवकाश दिया था, परन्तु मुझे बहुत देर हो गई। अब भी मैं इस झंझट में फँसी हूँ, इसके लिये स्वामी न मालूम क्या कहेंगे ? इतने में, रानी की दृष्टि ब्राह्मण पर पड़ी ही तो। ब्राह्मण को देखते ही, रानी सिंहासन से उतर पड़ीं, और हाथ जोड़कर ब्राह्मण से कहने लगी - महाराज, मेरा अपराध क्षमा कीजिये। मैं, अन्य प्रपंच में पड़ गई थी, इसी कारण अब तक नहीं आ सकी।

तारा की प्रार्थना के उत्तर में, ब्राह्मण तारा के पैरों पर गिर-कर कहने लगा—महारानी जी, मैंने अज्ञानवश आपसे दासी का काम कराया और निकृष्ट सेवाएँ लीं। तथा आपके साथ असमानु-[illegible] कठोर व्यवहार किया [illegible] अब [illegible] अज्ञान नाश [illegible] मैं आप से क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। आप मुझे [illegible]

[illegible] कहने लगी—ब्राह्मन मुझ [illegible] आप-जैसा पुरुष [illegible] निस्सन्देह

पथ-भ्रष्ट हो जाते। आपकी वह कृपा, कभी भूलने योग

ब्राह्मण ने, तारा के साथ बहुत ही दुर्व्यवहार कि
लेकिन तारा ने उसके दुर्व्यवहार का जिकर तक न
उसने जो सद्‌व्यवहार किये थे, उन्हीं की प्रशंसा क

सज्जनों में, स्वाभाविक ही यह गुण होता है, कि वे
पर ध्यान न देकर, केवल सद्‌व्यवहार पर ही ध्यान
जहाँ दुर्जन-मनुष्य, किसी के द्वारा किये गये अनेक स
पर दृष्टि न देकर, अपवाद स्वरूप जो एक आध दु
जाता है, उसीका वर्णन किया करते हैं, वहाँ सज्जन-म
दुर्व्यवहारों की भी उपेक्षा करके, जो एक-आध सद्‌व्य
होता है, उसी को महत्व देते हैं और उसी की प्रशंसा
इसीके अनुसार, तारा भी अपने स्वामी के अनेक-दुर्व्य
ध्यान न देकर, उसके थोड़े से सद्‌व्यवहार को ही
रही है। अस्तु।

तारा के द्वारा ब्राह्मण के प्रति प्रकट किये गये
...

वाले हैं- ऐसी अवस्था में, बिना परिचय प्राप्त हुए, मुझे कैसे पहिचान सकते थे ? यदि इस पर भी आप अपने को अपराधी समझते हैं, तो इसका प्रायश्चित यही है, कि भविष्य में अपने यहाँ आये हुए किसी दीन-दुःखी का अपमान करके; उसे दुत्कारिये नहीं, किंतु उसका दुःख दूर करने की चेष्टा कीजिये।

काशी-नरेश, श्मशान में पहुँच कर महाराजा हरिश्चन्द्र से कहने लगे, कि मैं नितान्त-अज्ञानी और हतभाग्य नरेश हूँ। आपने, इतने दिन मेरे नगर में रहकर, कष्ट उठाये; लेकिन मुझे इसकी खबर तक नहीं, इससे अधिक अज्ञानता क्या होगी ? आप मेरे अपराध को क्षमा कीजिये और कृपा करके यह बतलाइये, कि मैं इस अज्ञानता तथा अपराध का क्या प्रायश्चित करूँ ?

हरिश्चन्द्र ने, काशीनरेश का सत्कार करके, उन्हें आश्वासन दिया, और कहने लगे, कि आप अकारण ही पश्चाताप करते हैं। यदि आपको, मेरे आने की सूचना मिली होती, तो आप मुझसे अवश्य ही मिलते। लेकिन, जब मैंने किसी को अपना परिचय ही नहीं दिया, और परिचय न देने के कारण आपको सूचना ही नहीं मिली, ऐसी अवस्था में आपका क्या अपराध है ? मैंने, किसी को अपना पता नहीं दिया इसका कारण स्पष्ट है। परिचय देने से, आप निश्चय ही मुझे, अपने महल को लिवा ले जाते और मेरा ऋण चुकाकर, मुझे अपना अतिथि बनाते। ऐसी दशा में, आज आप जो रचना देख रहे हैं, यह रचना कैसे होती ? इसलिये आप इस विषय में खेद न कीजिये। खेद की बात यह अवश्य हो सकती है, कि जिस काशी की भूमि पवित्र मानी जाती है, जिस काशी में अयोध्या से आकर मैंने लाभ उठाया है, जिस

अयोध्या से चले हुए विश्वामित्र भी उसी समय काशी आ पहुँचे, जिस समय श्मशान में यह सब लीला हो रही थी। श्मशान में, अद्भुत प्रकाश देख, तथा हरिश्चन्द्र और तारा के जयघोष के साथ-साथ बहुत कोलाहल सुन, विश्वामित्र भी वहीं पहुँच गये। वहाँ जाकर देखते हैं, कि जिन राजा-रानी को खोजने वे निकले हैं, वे महाराजा हरिश्चन्द्र सिंहासन पर विराजमान हैं, उनके पास ही रोहित को गोद में लिये हुए तारा बैठी हैं और इन्द्रादि सब देव इनकी स्तुति कर रहे हैं। विश्वामित्र, वहीं से उच्च-स्वर में हरिश्चन्द्र और तारा का जयघोष करने लगे। हरिश्चन्द्र ने, जैसे ही विश्वामित्र को देखा, वैसे ही तारा सहित सिंहासन पर से उतर पड़े हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित ने, विश्वामित्र को प्रणाम किया। उपस्थित लोग, विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र दोनों के व्यवहार को देखकर आश्चर्यचकित रह गये और विचारने लगे, कि ये वे ही विश्वामित्र हैं जिन्होंने हरिश्चन्द्र को इतने कष्ट में डाला था, परन्तु आज स्वयं ही, हरिश्चन्द्र और तारा का जयघोष कर रहे हैं। तथा ये हरिश्चन्द्र और तारा भी वे ही हैं, जिन्होंने विश्वामित्र द्वारा इतने कष्ट पाये हैं, फिर भी अपने कष्टदाता-विश्वामित्र का सत्कार कर रहे हैं।

विश्वामित्र ने, राजा और रानी से कहा, कि आपलोग सिंहासन ही पर बैठिये। आपलोगों की महिमा, अब मेरी समझ में आई है। अबतक मैं समझता था कि मेरा क्रोध ही अपार है, परन्तु अब मैं इतने अनुभव के पश्चात यह बात स्वीकार करता हूँ कि आपलोगों का सत्य और धर्म मेरे क्रोध से भी बढ़कर अपार है। जिस बात का मेरे हृदय ने अबतक स्वीकार न की थी, वही बात

आज आपलोगों के सत्य से पराजित हो, मैं स्वीकार करता हूँ। आपलोगों ने, अपने सत्य और अपनी सहनशीलता द्वारा मेरे तप को पराजित कर दिया तथा इसके साथ ही मेरे क्रोध का भी नाश कर दिया है। जिस क्रोध के कारण, मैंने अनेक हानियें उठाईं, जिस क्रोध ने मेरी तपस्या के बल का नाश कराया, जिस क्रोध के वश होकर, मैंने निरपराधों और आप ऐसे सज्जनों को कष्ट में डाला, उस मेरे क्रोध को आपने अपनी क्षमा द्वारा जीत लिया। इस दुष्ट क्रोध से मेरा पीछा आप ऐसे सज्जनों ने ही छुड़ाया है, और कोई नहीं छुड़ा सकता था। अबतक मुझे, जितने मनुष्यों से काम पड़ा था, उन्होंने मेरे क्रोध को उत्तेजना ही दी थी, लेकिन इसका नाश कराने में समर्थ न होसके थे। आपको, मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ और अपने अपराधों के लिये क्षमाप्रार्थना करता हूँ।

विश्वामित्र की बात सुन, सारी सभा दङ्ग रह गई, कि जो विश्वामित्र अपने क्रोध के लिये प्रसिद्ध थे, नम्रता या क्षमा को जो जानते ही न थे, उनमें आज इतनी नम्रता कहाँ से आगई! विश्वामित्र को क्रोधरहित बना देने के लिए, सब लोग हरिश्चन्द्र को धन्यवाद देने लगे।

विश्वामित्र की बात के उत्तर में, हरिश्चन्द्र कहने लगे—महाराज, आप ऐसे ऋषि के लिये, मुझ तुच्छ की इतनी प्रशंसा करना अशोभनीय-सा है। जो कुछ भी हुआ है और जो कुछ भी हो रहा है, वह सब आप ही की कृपा का फल है। यदि आप राज्य न लेते, यदि आप मुझसे राज्य लेकर मुझपर दक्षिणा का बोझ न लादते, यदि आप अपनी दक्षिणा के

वसूली में ढील करते और हमें न बिकना पड़ता, तो आज आप जो आनन्द देख रहे हैं, यह आनन्द कदापि प्राप्त न होता। आपने, यह सब करके, मेरा उपकार ही किया है अपकार नहीं। आप, मेरे उपकारी हैं, आप ही की परीक्षा से मैं जान सका हूँ, कि मैं सत्य का कहाँ तक पालन कर सकता हूँ अतः आप धन्यवाद के पात्र हैं। आपने, मेरा उपकार करने में जो कष्ट सहे हैं, उनके आभार से मैं कदापि उऋण नहीं हो सकता। आपही की कृपा से आज यह सम्मेलन हुआ है।

राजा की, यह उदारपूर्ण बात सुनकर, सब लोग हरिश्चन्द्र की और भी प्रशंसा करने लगे।

विश्वामित्र बोले—बस राजन्! क्षमा करो। मैं, आप ही मर चुका हूँ, अब इस प्रशंसा द्वारा मुझे और न मारो।

हरिश्चन्द्र—महाराज, मैं मिथ्याभाषण तो जानता ही नहीं। मैंने, जो कुछ भी प्रार्थना की है, सत्य ही की है।

विश्वामित्र—अब, मेरी प्रार्थना स्वीकार करके आप अयोध्या को चलिये और वहाँ का राज्य सम्हालकर प्रजा को प्रसन्न कीजिये। आपके बिना, अवध की प्रजा नितान्त दुःखी है।

हरिश्चन्द्र—महाराज, मैंने तो वह राज्य आपको दान में दे दिया है। दान में दी हुई वस्तु को, मैं फिर कदापि नहीं ले सकता। इसके सिवाय अब मेरी राज्य करने की इच्छा भी नहीं है।

विश्वामित्र—राजन, मैंने उस समय जो कुछ भी किया था, वह क्रोधवश किया था। क्रोध ने मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी, इसी से मैंने तुम से राज्य माँग लिया था। तुम्हीं विचारो, कि यदि ऐसा न होता, तो मैं स्वयं तो अपने राज्य को त्याग चुका

जनता का हित हो, उस कार्य को करना तो स्वीकार करोगे न ?

हरिश्चन्द्र –हाँ, यदि मेरे किसी कार्य से दूसरों का हित होता हो, तो मैं उसे प्राणपण से करने को तैयार हूँ।

इन्द्र—आप, विश्वामित्र की प्रार्थना स्वीकार करके अयोध्या को तो चलिये। वहाँ की प्रजा, यदि विश्वामित्र के शासन से सुखी हो तब तो कोई बात ही नहीं है, किन्तु यदि वह विश्वामित्र के शासन से दुःखी हो और आपके शासन से उसे सुख मिलने की आशा हो, तब तो आपको शासन करना ही पड़ेगा। क्योंकि आप अभी इस बात को स्वीकार कर चुके हैं, कि 'यदि मेरे किसी कार्य से दूसरों का हित होता हो, तो मैं उसे प्राणपण से करने को तैयार हूँ।' राज्य करते हुए राज्य सुख भोगना एक बात है और प्रजा के हित को दृष्टि में रखकर, उसपर शासन करना तथा दुष्टों से प्रजा की रक्षा करना दूसरी बात है। अतः आप राज्य चाहे न कीजिये, परन्तु प्रजा की इच्छा होने के कारण, उसकी रक्षा का भार तो आपको ग्रहण करना ही पड़ेगा।

इन्द्र की बात के उत्तर में, महाराजा हरिश्चन्द्र ने कहा, कि रानी और मैं दोनों ही क्रीत-दास हैं। हमारे स्वामियों ने हमें पाँच पाँच सौ स्वर्णमुद्रा में खरीदा है। जबतक हमारे लिये दी हुई स्वर्णमुद्राएँ इन्हें वापस न मिल जावें, तबतक हमें चलने की बात करने का भी अधिकार नहीं है, यहाँ से अयोध्या चलना तो दूसरी बात है।

ब्राह्मण और भंगी कहने लगे, कि हम आपका मूल्य वैसे ही पा चुके। अब आप लोग हमारे दास नहीं हैं। हम, आप लोगों से कोई काम न लेंगे।

भंगी और ब्राह्मण के नाहीं करते रहने पर भी, देवताओं ने उन्हें व्यय किये हुए द्रव्य से कई गुना अधिक द्रव्य दिया।

इस प्रकार देवताओं ने दम्पति को दासत्व से मुक्त किया। इन्द्र की आज्ञा से, देवताओं ने तत्क्षण एक सुन्दर विमान तैयार किया। इन्द्र, विश्वामित्र आदि की प्रार्थना पर, महाराजा हरिश्चन्द्र, महारानी तारा, और कुमार रोहित, ब्राह्मण और भंगी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके और उनकी स्वीकृति लेकर तथा वहाँ के सब लोगों से आज्ञा माँग कर विमान में विराजे। विश्वामित्र तथा इन्द्रादि देवता भी विमान में सवार हुए और विमान को अयोध्या की ओर चलाया।

पुनरागमन

विश्वामित्र ने, अयोध्या की प्रजा को, सभा में आमन्त्रित कर जैसे ही यह शुभ-समाचार सुनाया, कि हरिश्चन्द्र को मैं पुनः लाकर अयोध्या के राज्यासन पर आसीन करूँगा, वैसे ही यह समाचार बिजली की नाईं सारे नगर में फैल गया। समस्त प्रजा प्रसन्न हो उठी और विश्वामित्र की दुर्बुद्धि मिट, सुबुद्धि आजाने के कारण, ईश्वर को धन्यवाद देने लगी। अस्तु।

आज, सारे नगर में यही चर्चा है। हरिश्चन्द्र का आना सुनकर, लोग प्रसन्नता से फूले नहीं समाते। सारा नगर सजाया गया है। हरिश्चन्द्र के आने का शुभ-समाचार मिलने की अभिलाषा से, लोग इधर-उधर बैठे हैं। स्त्रियें, हरिश्चन्द्र और तारा का नाम ले-लेकर मङ्गल गा रही हैं। पुरुष, हरिश्चन्द्र और तारा का जय घोष करने के साथ ही, सत्य और उनके सत्य का गुण-गान कर रहे हैं। [illegible] हरिश्चन्द्र का [illegible] में [illegible] के कारण [illegible] कर रहे हैं। हरिश्चन्द्र के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

ध्या के मार्ग की ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं। सहसा, ध्या की ओर से एक विमान आता हुआ उनकी दृष्टि पड़ा।

काशी की ओर से एक विमान आरहा है, और सम्भव है, कि उसी विमान में महाराजा हरिश्चन्द्र और पुत्र सहित महारानी तारा हों, इस अभिलाषा से सारे नगर निवासी, काशी के मार्ग की ओर दौड़ चले। स्त्रियें, सोने के थालों में मङ्गल द्रव्य सजा, हरिश्चन्द्र और तारा के मङ्गल गाती जारही हैं और पुरुष उच्चस्वर से जयघोष करते जारहे हैं। विमान को देख-कर, सारे नगरनिवासी उसी प्रकार उमड़ पड़े और इसी प्रकार कोलाहल करने लगे, जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर समुद्र।

उधर विमान में, महाराजा हरिश्चन्द्र; इन्द्र को अयोध्या पुरी बतलाते हुए कह रहे हैं, कि यही वह अयोध्या है, जिसमें जन्म धारण करने को देवतागण भी लालायित रहते हैं। यहां के नर-नारी मुझे बहुत ही प्रिय हैं। अयोध्या के सन्मुख, मेरी दृष्टि में स्वर्ग भी तुच्छ है। एक तो अयोध्या-पुरी प्राकृतिक कारणों से ही रम्य है दूसरे, इसी नगरी में भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थङ्करों ने जन्म धारण किया था और तीसरे यह अयोध्या-पुरी उस मनुष्य लोक में है, जहाँ पुण्योपार्जन के कार्य किये जा सकते हैं। इन सब कारणों से, अयोध्या बहुत ही प्रशंसनीय है।

हरिश्चन्द्र की बात के उत्तर में इन्द्र कहने लगे, कि वास्तव में अयोध्या [illegible] है अयोध्या की जितनी भी प्रशंसा की [illegible] इस अयोध्या [illegible]

[illegible]

रथ बाहर निकलकर, सब स्त्री-पुरुष तारा और हरिश्चन्द्र के गाते थे, इस प्रकार विनय करने लगे, जैसे उनके द्वारा किये गये अपराध का उत्तर दे रहे हों।

हरिश्चन्द्र के मिलने से, प्रजा को जो आनन्द हुआ, वह अव-र्णनीय है। हरिश्चन्द्र के लौट आने की खुशी में, उसने यथाशक्ति दान दिया। स्त्रियें भी, तारा को पाकर प्रसन्न हो उठीं और तारा से कहने लगीं, कि आपने ऐसे आपत्काल में पति के साथ जाकर, स्त्री-जाति का मुख उज्ज्वल कर दिया। वास्तव में आप, स्त्री-जाति को कलङ्क से बचाने के लिये ही, पति के साथ कष्ट सहन करने को गई थीं।

प्रजा का ऐसा प्रेम देखकर, इन्द्रादि सब देवता, प्रजा और हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगे। विश्वामित्र ने, राजा को राजमहल में ले चलने के लिये, प्रजा को संकेत किया। विश्वामित्र के संकेतानुसार, हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित को लेकर, प्रजा राजमहल की ओर चली। इन्द्रादि सब देवता और विश्वामित्र भी साथ साथ ही सब राजमहल को चले।

हरिश्चन्द्र के आने की प्रसन्नता से, नगर-निवासियों ने, नगर को तो पहले से ही सजा रखा था। स्थान-स्थान पर सुन्दरता बढ़ाने और स्वागत प्रदर्शित करनेवाली वस्तुएँ लगाई गई थीं। नगर में, चारों ओर सुगन्धि-[illegible] इस तरह उड़ रहे थे, और उनसे [illegible] [illegible] हैं [illegible] इन लताओं पुष्प [illegible] [illegible] और रोहित [illegible] [illegible] राजमहल होने [illegible] [illegible] [illegible]

समय से सूना था, आज महाराजा हरिश्चन्द्र के उसमें पदार्पण करने से सुशोभित हो उठा। जिस सूने राजमहल को देख-देखकर, प्रजा दुःख किया करती थी, उसी राजमहल में आज राजा, रानी और रोहित के पुनः पधार जाने से, प्रजा को अपार आनन्द हुआ।

हरिश्चंद्र से राज्य भार ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगी। हरिश्चन्द्र ने, प्रजा को समझाते हुए कहा, कि मैं इस राज्य का दान कर चुका हूँ, अतः फिर ग्रहण नहीं कर सकता।

अल्पबुद्धि-प्रजा, हरिश्चन्द्र के इस कथन से निरुत्तर हो, चुपचाप आँसू बहाने लगी। तब इंद्र ने हरिश्चन्द्र से कहा, कि आप मुझसे यह बात कह चुके हैं, कि "मैं दूसरे के हित के कार्य करने के लिये प्राणपण से तैयार हूँ।" अतः मैं प्रजा से यह प्रश्न करता हूँ, कि उसका हित विश्वामित्र के राजा रहने से है, या आपके।

इन्द्र के उपरोक्त प्रश्न करने पर, प्रजा ने एक स्वर से कहा, कि हमारा हित महाराजा-हरिश्चन्द्र के राज्य करने से ही होगा। हमें, जो सुख इनके राज्य में मिला था और भविष्य में मिलने का विश्वास है, वह सुख, विश्वामित्र के राज्य में कभी स्वप्न में भी नहीं मिला और न भविष्य में मिलने की आशा ही है।

प्रजा का उत्तर सुनकर, इन्द्र, फिर महाराजा हरिश्चन्द्र से कहने लगे—प्रजा आपसे प्रसन्न है और वह आपके राज्य करने से सुख की आशा करती है। ऐसी दशा में, प्रजा की इच्छा के विरुद्ध और वह भी ऐसे समय में, जब कि विश्वामित्र स्वयं ही आपसे राज्य ले लेने का आग्रह कर रहे हैं, राज्य न लेना कदापि उचित नहीं है। प्रजा, आपसे सुख की आशा करती है, अतः आपको यही उचित है, कि आप उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करें।

हरिश्चन्द्र—परन्तु आप ही कहिये, कि जो वस्तु दान में दी जा चुकी है क्या उसे फिर लौटा लेना उचित है?

इन्द्र—आपका यह कथन यथार्थ है, परन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि राज्य करके राज्य-सुख भोगना एक बात है और प्रजा पर शासन करके दुष्टों से उसकी रक्षा करना तथा उसे सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनाना दूसरी बात है। आपको, यह दूसरी बात करने के लिये ही कहा जाता है, पहली बात के लिये राज्य नहीं सौंपा जारहा है। इसके सिवाय, राज्य को दान में आपने दिया है, कुमार रोहित ने नहीं। विश्वामित्र, अपना राज्य, कुमार रोहित को देते हैं। रोहित को, विश्वामित्र का दिया हुआ राज्य लेने में कोई हर्ज नहीं है। रोहित जब तक छोटा है, राज्यभार वहन नहीं कर सकता, तबतक उसकी ओर से, उसके अभिभावक होने के कारण, आप राज्य कीजिये। और जब रोहित राज्यभार वहन करने के योग्य होजावे, तब आप उसका राज्य उसे सौंप दीजिये। सारांश यह, कि आपको दोनों तरह से राज्य लेना पड़ेगा। यदि आप यह कहें, कि हम दान में दी हुई वस्तु में से खावें-पीवें कैसे, तो उसका उत्तर यह है, कि संसार में कोई भी मनुष्य बिना खाये-पिये काम नहीं कर सकता। आप, बिके हुए थे, तब भी कालू-चाण्डालों के यहाँ का अन्न खाया ही होगा। उसी प्रकार यहाँ भी काम कीजिये और खाइये-पीजिये। प्रजा, आपके बिना कितने दुःख पा रही है, इस बात को विचारिए। अब, इसे दुःखमग्न ही रहने देना, आप ऐसे सत्यवादी के लिए उचित नहीं है।

इन्द्र, विश्वामित्र, प्रजा और अपने कुलदाता देव आदि के समझाने-बुझाने तथा अनेक अनुनय-विनय करने पर, हरिश्चन्द्र ने, रोहित के वयस्क होने तक राज्य करना स्वीकार किया। हरिश्चन्द्र के राज्य स्वीकार करते ही, सारी प्रजा आनन्द मग्न हो गई।

हरिश्चन्द्र और तारा के जय घोष से, सारा राजमहल गूँज उठा।

अयोध्या से, काशी को रवाना होते समय ही, विश्वामित्र, मन्त्रियों को राज्याभिषेक की सामग्री प्रस्तुत रखने की आज्ञा देगये थे। तदनुसार राज्याभिषेक की सारी सामग्री लाकर, सिंहासन के समीप रखी गई। विधि सहित हरिश्चन्द्र, तारा और कुमार रोहित को राजसी वस्त्रालङ्कारों से अलंकृत किया गया। अवध का वह राजमुकुट, जो हरिश्चन्द्र से त्यागे जाने पर यों ही रक्खा हुआ था, हरिश्चन्द्र के मस्तक पर पुनः शोभा पाने लगा। यह सब कुछ होजाने पर, रानी और कुमार सहित महाराजा हरिश्चन्द्र, अवध के उस छत्रमय राज्यसिंहासन पर बैठाये गये, जो इनके बिना खाली पड़ा रहता था। विश्वामित्र ने, राजा के हाथ में राज-दण्ड दिया। सब लोग, महाराजा-हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और कुमार रोहित की जय बोलने लगे, तथा बन्दीलोग उनका यश गाने लगे। विविध प्रकार के वाद्यों से, सारा नगर गूँज उठा। सब लोगों ने, यथा-विधि भेंट प्रस्तुत की और महाराजा हरिश्चन्द्र ने सबका उचित आदर-सत्कार किया।

राज्याभिषेक के, तत्कालीन सब कार्य निपट जाने पर, सब लोगों की उपस्थिति में, सभा के मध्य खड़े होकर, इंद्र कहने लगे—एक दिन वह था, जब कि मैंने अपनी सभा में महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य की प्रशंसा की थी और एक दिन आज है, जब कि मैं इनके सम्मुख ही उनकी प्रशंसा करने के लिये खड़ा हुआ हूँ। उस समय मैंने जो प्रशंसा की थी वह उसी प्रकार की थी, जैसे सोने को केवल रङ्ग रूप देखकर सोना कहना और आज जो प्रशंसा कर रहा हूँ वह वैसी है, जैसे सोने को तपाकर, कूटकर

सत्य से विचलित न हुए। यही कारण है, कि आज मनुष्यलोक में ही नहीं, किन्तु देवलोक में भी इनके सत्य के साथ ही साथ इनकी भी प्रशंसा हो रही है। आज, सारा संसार इनके सत्य की सराहना कर रहा है। यदि महाराजा-हरिश्चन्द्र के समान सत्यधारी राजा न होते, तो मैं नहीं कह सकता, कि देवलोक में देवतागण सत्य के लिये किसका आदर्श सम्मुख रखकर सत्य के सीख पाते। महाराजा-हरिश्चन्द्र के सत्य पर मुग्ध होकर, मेरा हृदय यही कहता है, कि सत्यरहित राजत्व की अपेक्षा ऐसे सत्यधारी का दासत्व भी कई गुना श्रेष्ठ है। सत्यरहित राज्य नर्क की ही प्राप्ति करावेगा, लेकिन सत्यसहित दासत्व, आत्मा को उच्चावस्था में पहुँचावेगा।

अन्त में, मैं आशीर्वाद देता हूँ, कि महाराजा हरिश्चन्द्र और इनके सत्य की कीर्ति वैसी ही अनन्त और अटल बनी रहे, जैसा अनन्त और अटल आकाश है। जिस सत्य पर विश्वास करके महाराजा हरिश्चन्द्र ने इतने कष्ट सहे हैं, और जिस सत्य के प्रताप से आज इनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही है, उस सत्य पर विश्वास करनेवाले और उस सत्य के पालन में कष्ट से भयभीत न होने वाले लोग, निश्चय ही शुभगति को प्राप्त होंगे।

इस प्रकार सत्य और हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करके, हरिश्चन्द्र से विदा माँगकर, इन्द्रादि सब देवता तो देवलोक को गये और विश्वामित्र वन को चले गये।

महामारी का नाम सुनाई नहीं देता था। उनका राज्य, मानों मूर्तिमान् शांति था। उनकी प्रजा यह नहीं जानती थी, कि दरिद्रता का दुःख कैसा होता है। प्रायः मनुष्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी ही थी। सब जीव ऐसे निर्वैर रहते थे, कि कोई भी किसी को न सताता था।

महाराजा-हरिश्चन्द्र के राज्य, में अतिवृष्टि या अनावृष्टि नहीं होती थी, समय-समय पर आवश्यकतानुसार वर्षा हुआ करती थी। सुगन्धयुक्त शीतल-पवन, मन्द-मन्द गति से चला करता था। सूर्य, मर्यादा के अनुसार ही तपता था, न्यूनाधिक नहीं। पृथ्वी, सदा हरियाली, पूरित रहती थी, और प्रजा के लिये उत्तमोत्तम अन्न दिया करती थी। वन के वृक्ष, फल-फूलों से लदे ही रहते। गौ आदि दुधारू-पशु, दूध और घृत से प्रजाजनों को सदा प्रसन्न रखते। नदियें, प्रजा को सुख पहुँचाती हुई ऐसी बहतीं, मानों अमृत लेकर बह रही हों। समुद्र, समय-समय पर मणि-मुक्तादि इस प्रकार अपने किनारे डाला करता, जैसे प्रजा को उसकी सद्भावनाओं का पुरस्कार देता हो। सारांश यह, कि महाराजा-हरिश्चन्द्र का राज्य, बड़ा ही सुखदायक था। दशों दिशाओं में आनन्द इस प्रकार व्याप्त था, मानों वह महाराजा-हरिश्चन्द्र और उनकी प्रजा के अधीन हो। अस्तु।

पहले के लोग, अपनी सारी आयु को संसार के भ्रमजाल में ही नहीं बिताते थे, अपितु आयु का एक भाग आत्मकल्याण में भी लगाते थे। वैसे तो गृहस्थी में रहते हुए भी वे आत्मकल्याण की ओर ले जानेवाले कार्य किया करते थे, परन्तु आयु का [illegible] निरन्तर इसी कार्य में लगा दिया करते थे। इसी-

होचुकी थी। यद्यपि, तेजस्वी होने के कारण युवावस्था के अव-
सान के कोई चिन्ह इनके शरीर पर न दिखाई देते थे, तथापि ये
लोग आज के लोगों की तरह न थे, जो बुढ़ापे को भी जवानी
मानकर गृहस्थी में ही फँसे रहते इन्द्रियों में, किञ्चित भी
शिथिलता आने को, उस समय के लोग वृद्धावस्था का नोटिस
समझते और जहाँ आज के लोग, शिथिल-इन्द्रियों को पुनः जाग्रत
करने तथा श्वेत-केशों को पुनः श्याम बनाने के लिए औषधियों
का प्रयोग करते हैं, वहाँ उस समय के लोग गृहस्थी छोड़कर
तपस्या में तल्लीन होजाते थे। इसी के अनुसार, महाराजा-हरिश्चन्द्र
और महारानी-तारा ने भी, गृह-त्याग का विचार किया। इधर
रोहित भी बड़े हो चुके थे। राज्य-कार्य सम्हालने की योग्यता
भी उनमें आचुकी थी। महाराजा-हरिश्चन्द्र ने, रोहित के बड़े
होने तक के लिये ही, राज्य करना स्वीकार किया था, इसके
अनुसार भी उन्होंने राज्य-त्याग करना उचित समझा।

राज्य-त्याग का विचार करके, महाराजा हरिश्चन्द्र ने, रोहित
के राज्याभिषेक की तयारी कराई। अपने प्रिय राजा रानी के
विचारों से प्रजा भी सहमत हुई और प्रजावर्ग के बहुत से स्त्री-
पुरुष, राजा-रानी के इस कार्य का अनुकरण करने को तैयार
हुए।

'यथा राजा तथा प्रजा' इस कहावत के अनुसार, प्रजा उन
कार्यों का [illegible] है जिन्हें राजा करता है।
मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरणशील होता है। उसमें भी प्रिय
राजा के [illegible] प्रजा [illegible]। जिस गौरव की बात
समझता है राजा के प्रत्येक कार्य का प्रजा अनुकरण करने

पुत्रवत है। जिस प्रकार, पुत्र के सुख दुःख आदि का ध्यान रखना तथा दुःख दूर करके सुख पहुँचाना पिता का कर्तव्य है, इसी प्रकार राजा का भी कर्तव्य है, कि वह प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता रखकर, उसका दुःख दूर करे। जो राजा, अपनी प्रजा का दुःख दूर करने में असमर्थ होता है, या इस ओर उपेक्षा-भाव रखता है, वह अयोग्य समझा जाता है। इसलिये राजा को, प्रजा का दुःख दूर करने में कदापि शिथिलता न करनी चाहिए। प्रजा के सुखी रहने पर ही, राजा सुखी रह सकता है; अन्यथा कदापि सुखी नहीं रह सकता। इसके सिवाय, प्रत्येक व्यक्ति का दान-मान से सम्मान करना भी राजा का कर्तव्य है। जो राजा, दान करना और आने-जानेवाले का सम्मान करना नहीं जानता, वह भी अयोग्य माना जाता है।"

"अन्त में, यही कहता हूँ, कि प्राण चाहे चले जावें, परन्तु सत्य और धर्म को कदापि हाथ से न जाने देना। सत्य और धर्म के रहने पर, और सब वस्तुएँ फिर प्राप्त हो सकती हैं; परन्तु इनके न रहने पर, ये संसार की जड़-वस्तुएँ किसी काम की नहीं। बिना सत्य और धर्म के, ये सांसारिक-वस्तुएँ इस लोक में तो दुःखदाता होंगी ही, परन्तु परलोक में भी दुःखदाता ही होंगी।"

"मैं, प्रजा को रोहित के और रोहित को प्रजा के हाथों सौंप रहा हूँ। आशा है, कि दोनों एक-दूसरे से सहयोग रखकर, सत्य-धर्म पूर्वक राज्य की व्यवस्था करेंगे।"

राजा का कथन समाप्त होते ही, प्रजा ने हर्ष पूर्वक हरिश्चंद्र, तारा और रोहित की जयध्वनि की। महल से निकलकर, प्रजा-

३२

उपसंहार

पाठकगण ! यह तो पहले ही कहा जा चुका है, कि चरित्र कहने-सुनने का तात्पर्य यह है, कि चरित्र में वर्णित अच्छे-कार्यों का अनुकरण और बुरे-कार्यों का त्याग किया जाय। इस कथन का तात्पर्य केवल यही नहीं है, कि महाराजा-हरिश्चन्द्र और महारानी-तारा के चरित्र का अनुकरण करने के लिये, आपलोग भी अपने गृहादि को दान कर दें, या दूसरे के दास होकर रहें। सत्य के लिये, यदि ऐसा हो सके, तब तो अच्छा ही है, लेकिन ऐसा न हो सकने के कारण, सत्य से ही वञ्चित रहना उचित नहीं है। जिस आकाश में गरुड़-पक्षी उड़ता है, उसी में एक पतङ्ग को भी उड़ने का अधिकार है। यह बात दूसरी है, कि यह उड़ने में गरुड़ की समानता न कर सके; लेकिन समानता न कर सकने के कारण से, उड़ना बन्द नहीं करता। इसी तरह, जिस सत्य को महाराजा-हरिश्चंद्र और महारानी-तारा के समान उच्च व्यक्तियों ने पाला है उसी सत्य को, साधारण से साधारण मनुष्य भी पाल सकता है। यह बात दूसरी है, कि आज के मनुष्य महाराजा-हरिश्चंद्र और महारानी-तारा की तरह त्याग न दिखला सकें;

मण्डल के सदस्यों की तीन श्रेणियां

(१) मण्डल के कोश में एकदम से ५००) पाँचसौ या इससे अधिक रुपया जमा करने वाले, वंश-परम्परा के सदस्य होंगे।

(२) मण्डल के कोश में, एकदम से १००) एकसौ से अधिक और ५००) पाँचसौ से कम, रुपया जमा करने वाले, जीवन-भर के सदस्य होंगे।

(३) मण्डल के कोश में २) दो रुपये या दो रुपया प्रति-वर्ष के हिसाब से एकसौ रुपये से कम रुपया जमा करने वाले, एक वर्ष या जितने वर्ष का चन्दा जमा किया हो, उतने वर्ष के सदस्य होंगे।

दूसरी और तीसरी श्रेणी के सदस्य को, द्रव्य की व्यवस्था के सिवाय और सब बातों में सम्मति देने का अधिकार होगा। मण्डल से निकलने वाली 'निवेदन-पत्र' नाम की मासिक-रिपोर्ट, सब सदस्यों के पास बिना मूल्य पहुँचेगी।

क्या आप अब तक मण्डल के सदस्य नहीं हैं ?

यदि नहीं, तो [illegible] सदस्य बनकर मण्डल के उद्देश्य-पूर्ति में सहायता कीजिए।

यदि आप मण्डल द्वारा सम्पादन कराई हुई पुस्तकें अपनी ओर से प्रकाशित कराना चाहें या इस कार्य में मण्डल को

सहायता करेंगे, तो मण्डल आपकी इस सहायता को सह
स्वीकार करके उचित व्यवस्था कर देगा और पुस्तक पर आपकी
सहायता का उल्लेख कर दिया जावेगा । मण्डल द्वारा, अब तक
निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) श्रावक का अहिंसा व्रत प्रथमावृत्ति मू० ॥)
„ „ द्वितीयावृत्ति ।)
(२) सकडाल पुत्र श्रावक की कथा मू० ।≈)
(३) धर्म व्याख्या—बिना मूल्य
(४) श्रावक का सत्य व्रत मू० ≡)
(५) सत्यमूर्त्ति हरिश्चन्द्र-तारा—आपके हाथ में है।
(६) श्रावक का अस्तेय व्रत। छप रहा है।

ये सब पुस्तकें पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज के व्याख्यानों में से प्रकाशित की गई हैं, जो चतुर्मास में संग्रह कराये जाते हैं। और भी कई महत्वपूर्ण कार्य मण्डल द्वारा हो रहे हैं। पत्र द्वारा सब बातें जान सकते हैं।

पत्र व्यवहार का पता—

श्री साधुमार्गी-जैन
पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु
श्रावक-मण्डल रतलाम (मालवा)